CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शोध

[साहित्य - संस्कृति - गवेषणा - प्रधान पत्रिका]

३

सम्पादक

डॉ० बनारसी प्रसाद भोजपुरी : डॉ० राजाराम जैन

२०४० विक्रमाब्द : १९८३ खृष्टाब्द

नागरी - प्रचारिणी सभा

आरा (भोजपुर : बिहार)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री गणेशवर्णी दि० जैन संस्थान को सादर भेंट।
राजाराम जैन
१.२.८५

शोध

[साहित्य-संस्कृति-गवेषणा-प्रधान पत्रिका]

[३]

सम्पादक

डॉ० बनारसीप्रसाद भोजपुरी : डॉ० राजाराम जैन

नागरी-प्रचारिणी सभा

आरा (भोजपुर : बिहार)

२०४० विक्रमाब्द : १९८३ खृष्टाब्द

प्रस्तुत प्रति का मूल्य : बीस रुपये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय-प्रस्तुति

सम्पादकीय टिप्पणियाँ : १

• डॉ० उपेन्द्र ठाकुर
आर्यभट और भारतीय ज्योतिष-विज्ञान : ७

• डॉ० पद्माकर सिंह
भारतीय दर्शन में भक्ति का स्वरूप एवं विकास : ३२

• डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव
वसुदेवहिण्डी : प्राकृत-बृहत्कथा : ४३

• डॉ० राजाराम जैन
अपभ्रंश-साहित्य में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री : ४९

• श्रीअरविन्द कुमार
भोजपुर की हिन्दी-पत्रकारिता : ६६

• डॉ० कपिलदेव पाण्डेय
साहित्य में आदर्शवाद : ७१

• डॉ० दशरथ सिंह
सत्याग्रही और सत्यग्राही : ८०

• डॉ० (श्रीमती) विद्यावती जैन
'प्रद्युम्नचरित' : एक मूल्यांकन : ८५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३७५६

सम्पादकीय

मानव का मूल्य :

भारतीय विचारकों ने मानव का मूल्य बहुत ऊँचा बताया है। उनके विचार में मानव अपने को तभी गरिमामय बना सकेगा, जब वह सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, त्याग, सेवा, परहित आदि धर्मभावनाओं की साधना करने की चेष्टा करेगा। प्राचीन भारत के मनीषियों ने सत्य को अपनाया है; अहिंसा, दया आदि धर्मों को समझा है और तपश्चर्या में अपने जीवन को लगाया है। हरिश्चन्द्र, दधीचि, सगर, राम, कृष्ण, कर्ण आदि महापुरुषों ने, वाल्मीकि, विश्वामित्र, कण्व; याज्ञवल्क्य, नारद, शृंगी, अत्रि, वशिष्ठ आदि ऋषियों ने; शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, रामानन्द, बुद्ध, महावीर आदि धर्माचार्यों ने तथा बड़े-बड़े ईशभक्तों और शूरवीरों ने मानव के मूल्यों को प्रतिष्ठा दी है। उन्होंने त्याग को अपनाकर अपनी सुख-सुविधा का बलिदान किया है और संघर्ष की लपटों में तपकर अपने जीवन को निखारा है।

भारतीय विचारकों ने मानव को तीन वर्गों में विभक्त किया है : मनुष्य, देवता और असुर। देवता ऊपर की श्रेणी है, मनुष्य मध्य की तथा असुर नीचे की। ये सभी श्रेणियाँ मानव की हैं। तीसरी असुर-श्रेणी मानव के रूप को विकृत कर देती है। मानव मानव नहीं रह जाता। यह देखकर आश्चर्य होता है, जब एक मनुष्य आसुरी प्रवृत्तियों को अपनाकर, भ्रमवश, क्षणभंगुर मुद्रा के लोभ में आसक्त होकर एक निरीह प्राणी की हत्या कर देता है, और उसके खून में स्नान कर अपने को सामर्थ्यवान् समझता है !

आज मानव की संज्ञा बदल गई है। पहले वे आर्य कहे जाते थे; मनीषी, महापुरुष आदि उत्कृष्ट विशेषणों से विभूषित होते थे; लेकिन आज प्रलोभी, प्रकोपी, हिंसक आदि भयानक अभिधाओं से सम्बोधित हो रहे हैं। वैदिक काल के बाद, मानव के मूल्यों में क्रमशः ह्रास देखा जा रहा है। धर्म के प्रचारकों में पारस्परिक संघर्ष, राजनीतिज्ञों में हार-जीत की होड़ तथा साधारण जनता में स्वार्थपूर्ण राजनीति उभरने लगी है। ऐसी स्थिति में पारस्परिक सद्भावना समाप्त होने लगी है और आपसी कटुता ने भयानक पंजा फैलाना प्रारम्भ किया है। फलस्वरूप, भारतीय राजनीति में 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' के सिद्धान्त ने व्यापक रूप से भारतीय वातावरण को दूषित कर दिया है। इन सब बातों से परिणाम यह हुआ कि भारत को विदेशी हुकूमत ग्रहण करनी पड़ी। यहाँतक कि भारतवासी अपनी पवित्र स्वतन्त्रता गवाँ बैठे, साथ ही अपनी बहुमूल्य संस्कृति और गरिमा भी खो बैठे। गुलामी की जंजीरों में जकड़े रहने के कारण भारतवासी यह भी भूल गये कि वे कभी स्वतन्त्र भी थे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिस्थिति ने पलटा खाया। भारत की पवित्र भूमि में उत्पन्न कुछ पवित्रात्माओं ने मानव के मूल्य को समझा। उन्हीं महान् आत्माओं में अन्यतम लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने घोषणा की: 'स्वाधीनता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार हैं और हम उसे लेकर रहेंगे।' दूसरे महामानव महात्मा गान्धी ने देशवासियों को सत्याग्रह का मूलमन्त्र दिया, और स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए अहिंसात्मक युद्ध छेड़ दिया। भयानक कशमकश के बाद स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। सदियों से गुलामी की जंजीरों में कराहती भारतमाता बन्धन से मुक्त हो गई। देशवासी मुक्त वातावरण में विचरने लगे।

स्वतन्त्र भारत ने देश के शासन की बागडोर सँभाली। महात्मा गान्धी की कल्पना सुराज्य की थी। उनकी कल्पना में देश का सुनहला भविष्य था। प्राचीन भारत ने मानव के मूल्य को जिस ऊँचाई पर पहुँचाया था, वह सारा दृश्य भी उनके सामने था। इसीलिए, वे प्राचीन संस्कृति को भूलना नहीं चाहते थे। तप और त्याग में उन्हें पूर्ण विश्वास था। भूकम्प को भी वे पाप का फल समझते थे। लेकिन, शासन की बागडोर सँभालने के बाद भारत के नेता उन्हें भूल गये। मानव के जिस पवित्र मूल्य की स्थापना वे पुनः करना चाहते थे, उस कार्य में उन्हें सफलता न मिल सकी। उनके नहीं चाहने पर भी देश मजहब के नाम पर विभक्त हो गया और मजहबी कटुता का जहर देश की नसों में फैल गया। आज मानवता का मुखमण्डल आन्तरिक तनाव के कारण धूमिल हो गया है।

मानव का मूल्य गिराने में यों तो सभी वर्गों का हाथ है, पर राजनीतिज्ञों का विशेष हाथ कहा जा सकता है। आज के राजनीतिज्ञ सरकार की सुनहली गद्दी प्राप्त करने की होड़ में लग गये हैं। वे भूल गये हैं कि भारत के बलिदानियों ने भारतमाता को दासता की जंजीरों से मुक्त करने के लिए खून-पसीना एक कर दिया था। उन्हीं बलिदानों की जलती चिनगारियों से भयभीत होकर विदेशी शासकों ने अपने खूँखार पंजों को समेट लिया था। दुःख है, आज के राजनेता स्वार्थ के वशीभूत होकर स्वतन्त्रता को पनपने नहीं दे रहे हैं। महात्मा गान्धी के सहयोगी सीमान्त गान्धी खान अब्दुल गफ्फार खाँ ने विगत सन् १९८० ई० के १ जून को श्रीनगर की एक आम सभा में भाषण करते हुए कहा था कि "आज का दृश्य देखकर मैं बहुत चिन्तित हो गया हूँ कि भारत की राजनीति एक भयानक मानसिक रोग से ग्रस्त हो गई है, और वह रोग है अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए राजनीतिज्ञों में बेचैनी। शासन की बागडोर हासिल करने के लिए राजनीतिज्ञों में होड़ लगी हुई है।" सीमान्त गान्धी का यह कथन आज अक्षरशः सत्य सिद्ध हो रहा है।

राजनीतिज्ञ जब स्वार्थसिद्धि में परेशान हो जाते हैं, तब देश में भ्रष्टाचार द्रुतगति से फैलने लगता है। वैसी स्थिति में प्रशासन पर भ्रष्टाचार हावी हो जाता है। भ्रष्टाचार के फैलने से देश का सारा वातावरण दूषित हो जाता है, और मानव का मूल्य गिरने लगता है। आज मानव का मूल्य कीट-पतंग के बराबर भी नहीं दिखाई देता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भ्रष्टाचार को मिटाने के लिए चरित्र-बल की आवश्यकता है। चरित्र-बल तभी दिव्य हो सकेगा, जब हममें सत्य, अहिंसा, तपश्चर्या आदि का आग्रह होगा। जब मनुष्य में मनुष्यता का प्रत्यक्षीकरण होगा, तभी मानव का मूल्य पुनः शिखर पर आरूढ हो सकेगा।

o

वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति :

वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति उसी शिक्षा-प्रणाली पर आधृत है, जिसे अँगरेजों ने भारत को गुलामी के शिकंजों में कसने के लिए स्थापित की थी। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के वाद भारत में गणतन्त्र की स्थापना हुई है, और उसके संचालन के लिए स्वतन्त्र विधान वनाया गया है। लेकिन, शिक्षा-पद्धति में कोई मौलिक परिवर्त्तन नहीं दिखाई पड़ता। शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षा और परीक्षा की प्रमुखता है। व्याख्याताओं द्वारा छात्रों को विभिन्न विषयों की शिक्षा देना और उन्हीं विषयों की लिखित तथा मौखिक परीक्षा लेना और उनके द्वारा प्राप्त अंकों के आधार पर उत्तीर्ण या अनुत्तीर्ण होने की घोषणा करना ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है। इसी पद्धति के द्वारा योग्यता और अयोग्यता की भी घोषणा की जाती है। उत्तीर्ण छात्रों को प्राप्तांकों के आधार पर उनकी योग्यता को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है : प्रथम, द्वितीय और तृतीय।

प्रश्न है, क्या योग्यता का यह सही मापदण्ड है? यदि योग्यता का वर्त्तमान मापदण्ड ठीक रहता, तो सन् १९८२ ई० के सितम्वर मास में आयोजित एक सेमिनार में बिहार के विश्वविद्यालयों के कुलाधिपति तथा राज्यपाल डॉ० ए० आर० किदवाई को यह कहने का अवसर नहीं मिलता कि शिक्षा के स्तर में, विशेषत: स्नातकोत्तर शिक्षा के स्तर में, अत्यन्त ह्रास हो गया है। उसी गोष्ठी में बोलते हुए विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग के उपाध्यक्ष डॉ० रईस अहमद ने स्पष्ट शव्दों में कहा था कि उच्च शिक्षा का स्तर निरन्तर गिरता जा रहा है। उच्च शिक्षाप्राप्त छात्रों को सम्वद्ध विषयों का पर्याप्त ज्ञान नहीं रहता। हम यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि वैसे छात्रों की कमी नहीं है, जिनकी योग्यता के समक्ष प्रश्नचिह्न नहीं लगाया जा सकता; पर वे अल्पमत में हैं, यह स्वीकार करने में हिचक नहीं मालूम होती।

योग्यता और अयोग्यता का प्रमाणपत्र परीक्षा के द्वारा प्राप्त उत्तीर्णांकों के आधार पर देने की पद्धति ठीक हो सकती है। पर, प्रश्न यह है, क्या परीक्षा में सही तरीके से छात्रों को अंक दिये जाते हैं? छात्रों के लिए प्रश्नों का चुनाव करने, छात्रों द्वारा प्रश्न-पत्रों के उत्तर देने तथा उत्तर-पुस्तिकाओं के परीक्षण करने की प्रणाली क्या विशुद्ध है? क्या येन-केन प्रकारेण परीक्षा देकर उत्तीर्ण होने के प्रयास में छात्रों को पूर्णतया सफलता नहीं मिल रही है? क्या परीक्षकों में वैसे प्रगल्भ परीक्षक सजग होकर तथाकथित सम्बद्ध छात्रों को उत्तीर्ण कराने के लिए मकड़जाल बुनने में सफल नहीं हो रहे हैं? क्या वैसी परिस्थिति में परीक्षाफल के द्वारा योग्यता का मापदण्ड मान लेना उचित है? यही कारण है कि आज उच्च शिक्षाप्राप्त छात्रों की योग्यता पर उँगली उठाई जा रही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक शिक्षा-गोष्ठी में भाषण करते हुए विहार के तत्कालीन मुख्यमन्त्री डॉ० जगन्नाथ ने जोरदार शब्दों में कहा था कि शिक्षा के क्षेत्र में सन् १९८०-८१ ई० का वर्ष विहार के लिए क्रान्तिकारी वर्ष कहा जा सकता है। इस अवधि में विहार के अनेक कॉलेजों को अंगीभूत किया गया है। सरकार का यह कार्य प्रशंसनीय हो सकता है, पर क्या सिर्फ अंगीभूत कॉलेजों की संख्या बढ़ा देने-मात्र से ही शिक्षा के स्तर में सुधार होना मान लिया जाय? प्राप्त सूचनाओं के आधार पर यह कहने में संकोच नहीं मालूम होता कि अंगीभूत कॉलेजों में शिक्षा के स्तर को उन्नत करने का ईमानदारी से प्रयास नहीं किया जाता।

शिक्षा के क्षेत्र में सुधार लाने के लिए योग्य और ईमानदार शिक्षकों की आवश्यकता है। शिक्षकों की नियुक्तियों में पक्षपात का सहारा लेना अनुचित है। तटस्थता के आधार पर योग्य शिक्षकों की नियुक्तियाँ होने से शिक्षा के स्तर में आशातीत उन्नति हो सकेगी।

वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति विलकुल लुंजपुंज हो गई है। इसमें आमूल परिवर्त्तन अपेक्षित है। पाठ्यपुस्तकों का चुनाव, छात्रों को विषयों का ज्ञान कराने की पद्धति और परीक्षा लेने का तौर-तरीका बिलकुल अवैज्ञानिक प्रतीत होता है। छात्रों को वाध्य होकर उन विषयों को पढ़ना पड़ता है, जिनमें उनकी विलकुल अभिरुचि नहीं है। इसलिए, छात्रों की रुचि के अनुसार विषयों का चुनाव होना चाहिए, न कि अधिकारियों की इच्छा के अनुसार। छात्रों का मन पढ़ने में तभी लगेगा, जब उनके मन के अनुसार विषय पढ़ने को मिलेंगे। विषयों की संख्या अधिक नहीं होनी चाहिए। दो या तीन से अधिक विषयों का भार कोमल मस्तिष्क के लिए असह्य होगा। विषयों का चुनाव मनोवैज्ञानिक आधार पर होना चाहिए।

विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में अनुशासन और सच्चरित्रता पर पूरा ध्यान देना चाहिए। विश्वविद्यालयों का वातावरण जबतक विशुद्ध नहीं होगा, तबतक असामाजिक तत्त्वों का प्रभाव भी कम नहीं होगा। असामाजिक तत्त्व कॉलेज के वातावरण को दूषित बनाने में सफल हो जाते हैं। इसीलिए, विश्वविद्यालय राजनीति का अखाड़ा बन जाता है। इस अखाड़े में छात्र और शिक्षक दोनों पैंतरा बदलते दिखाई देते हैं!

पाठ्यपुस्तकों का चुनाव भी मनोवैज्ञानिक आधार पर ही होना चाहिए। आज पैरवी के बल पर पाठ्यपुस्तकों का चुनाव किया जाता है, जो छात्रों के अनुकूल नहीं होतीं। चूँकि छात्रों के लिए विषयों का चुनाव करना, अध्यापकों द्वारा छात्रों को विषयों की जानकारी कराना, उनकी परीक्षा लेना और परीक्षाफल की घोषणा करना, शिक्षा-क्षेत्र की मूल बातें हैं, इसलिए इन्हीं बातों पर सरकार को पुनः विचार करने के निमित्त शिक्षाविदों की एक उच्च समिति का गठन करना चाहिए, जो इन बातों पर मनोवैज्ञानिक ढंग से विचार कर सके, और वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति में आवश्यक मौलिक परिवर्त्तन ला सके। कारण, वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति द्वारा छात्रों की शैक्षिक योग्यता में दिनानुदिन ह्रास होता जा रहा है!

०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भोजपुरी-अकादमी से :

प्रसन्नता की बात है कि भोजपुरी-अकादमी ने इधर भोजपुरी-भाषा और साहित्य-सम्बन्धी रचनाओं के अन्वेषण और प्रकाशन का कार्य द्रुतगति से प्रारम्भ किया है। हम यहाँ एक ऐसे विस्मृत कवि की रचनाओं की ओर अकादमी का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं, जिसकी कविताओं का ग्रामीणों में पूरा प्रचार है। वे हैं—सन्त रामेश्वरदास।

सन्त रामेश्वरदास आरा से उत्तर स्थित गुण्डी ग्राम के रहनेवाले थे। वे साधारण गृहस्थ-परिवार के थे। कहा जाता है कि एक दिन जब वे अपने खेत की फसल की रखवाली कर रहे थे, तभी उन्हें रात्रि में स्वप्न हुआ कि व्यर्थ में तुम अपना जीवन क्यों गवाँ रहे हो, भगवान् की खोज करो, वे तुम्हें अवश्य मिलेंगे। उनकी नींद खुल गई, और वे मन में तर्क-वितर्क करने लगे। अन्त में, उन्होंने घर छोड़कर परमात्मा की सेवा में अपना अन्तिम जीवन लगा देने का निश्चय किया। वे घर से अलग हो गये और गाँव के सटे एक घने बगीचे में झोपड़ी डालकर रहने लगे। एक दिन वे अचानक वहाँ से अन्यत्र चले गये। कहा जाता है कि पर-सेवा को ही उन्होंने ईश्वर की सेवा मान ली। सन्तों की संगति में वे निरन्तर रहने लगे। सन्तों की संगति से उन्हें बहुत लाभ हुआ। पढ़ने-लिखने की ओर उनकी रुचि जगी। वे भगवान् को सम्बोधित कर कविता बनाने लगे। उनकी अधिकांश कविताएँ भोजपुरी-भाषा में हैं। उन्होंने अपनी कविताओं के लिए विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है, जैसे दोहा, कुण्डलिया, कवित्त, सवैया इत्यादि। उनकी रचनाओं की संख्या लगभग तेरह सौ उनसठ है। लेकिन, सभी रचनाएँ अस्त-व्यस्त हालत में पड़ी हुई हैं। उनका संग्रह, सम्पादन एवं प्रकाशन अपेक्षित है। सन्त रामेश्वरदास का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में हुआ था। मृत्युकाल का ठीक-ठीक पता नहीं चलता।

भोजपुरी-अकादमी को चाहिए की ऐसे उपेक्षित भोजपुरी-कवि की रचनाओं का संग्रह कराये और उनका सम्पादन कर प्रकाशित करे। हमारा विश्वास है कि सन्त रामेश्वरदास की रचनाएँ भोजपुरी-साहित्य की गरिमा बढ़ायगी। भोजपुरी-अकादमी का कर्त्तव्य है कि वह सन्त रामेश्वरदास जैसे कवियों की रचनाओं का प्रकाशन कर भोजपुरी-साहित्य की श्रीवृद्धि करे। ऐसी पुरानी रचनाओं में भोजपुरी-भाषा का विशुद्ध रूप परिलक्षित होता है। शोधार्थियों के लिए ये रचनाएँ, निश्चय ही, मूल्यवान् सिद्ध होंगी।

०

आचार्य विनोबा भावे :

आचार्य विनोबा भावे गान्धी-विचारधारा के न सिर्फ पोषक थे, बल्कि उसे साकार करने के लिए जीवनपर्यन्त तत्पर एवं सक्रिय रहे। महात्मा गान्धी ने दृढ निश्चय किया था कि रोगाक्रान्त होकर वे खाट पर पड़े-पड़े मृत्यु का आलिंगन नहीं करेंगे, बल्कि एक वीर अहिंसात्मक योद्धा के रूप में काल के गाल में प्रवेश करेंगे। उनका निश्चय पूरा हुआ, और वे एक आततायी की गोली की कर्कश आवाज को चीरते हुए 'हे राम' की मधुर ध्वनि में विलीन हो गये! उसी तरह सन्त के रूप में विनोबा ने अपने दिल की धड़कनों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को समेटते हुए अपनी इच्छा से विगत सन् १९८२ ई० के १५ नवम्बर को साढ़े नौ बजें पूर्वाह्न में मृत्यु का वरण किया। गान्धीजी ने सत्य-अहिंसा के प्रयोग को सफल और सार्थक करने के लिए आचार्य विनोबा का चुनाव किया था। आचार्य ने सर्वोदय का नारा दिया। उन्होंने भूदान-आन्दोलन का श्रीगणेश किया, और उसे व्यापक रूप से कार्यान्वित करने के लिए पूरे देश का भ्रमण किया। उनके इन महान् कार्यों से प्रभावित होकर जयप्रकाश नारायण जैसे महान् नेता ने उनका पूरा साथ दिया और वे राजनीति से विलग होकर उनके कार्यों के सम्पादन में लग गये।

आचार्य विनोबा भावे सिर्फ मंच के नेता नहीं थे। वे जो कहते थे, उसे कार्यरूप में परिणत करने के लिए सतत सचेष्ट रहते थे। महात्मा गान्धी ने उन्हें पूरी तरह समझा था। इसीलिए, उन्होंने वर्धा-आश्रम का सारा दायित्व उन्हीं को सौंपा था। इसका कारण यह था कि सन् १९१५ ई० में जब गान्धीजी दक्षिण अफ्रिका से लौटे और भारतीय राजनीति में सक्रिय रूप से उन्होंने प्रवेश किया, तब विनोबाजी के विचारों से वे अत्यन्त प्रभावित हो गये। विनोबा भावे भी महात्मा गान्धी के अध्यात्ममिश्रित राजनीतिक कार्यक्रम की ओर इतना अधिक आकृष्ट हो गये कि सन् १९१६ ई० में उन्होंने महात्मा गान्धी से विनयपूर्वक अनुरोध किया कि वे उन्हें अपने आध्यात्मिक पुत्र के रूप में स्वीकार कर लें और महात्मा गान्धी ने उन्हें अपना लिया।

आचार्य विनोबा का जन्म रुक्मिणी बाई जैसी तपस्विनी, संयमी तथा परोपकारिणी माता के गर्भ से हुआ था। माता के विचारों तथा व्यवहारों का पूरा-पूरा प्रभाव विनोबाजी के मस्तिष्क पर पड़ा था। इसीलिए, बचपन में ही विनोबा ने संयम का व्रत ले लिया था। परोपकार करना वे मनुष्य का कर्त्तव्य समझते थे। अध्यात्म में उनकी विशेष रुचि थी, इसीलिए उनमें संस्कृत पढ़ने की प्रबल उत्कण्ठा थी।

विनोबा भावे वास्तव में आचार्य थे। संस्कृत के वे विद्वान् तो थे ही, भारत की विभिन्न भाषाओं के पूर्ण ज्ञाता भी थे। विदेशी भाषाओं की भी उन्हें पूरी जानकारी थी। फ्रेंच-भाषा पर तो उनका पूरा अधिकार था ही; अध्यात्मविद्या में भी उनकी बड़ी लगन थी। अध्यात्महीन राजनीति को वे हेय मानते थे। मिथ्यावाद, स्वार्थवाद और आत्मश्लाघा के विष से मिश्रित राजनीतिक विषधरों के विषैले घोंसलों में उन्हें आकर्षण नहीं दिखाई देता था। वे आज के जहरीले वातावरण से ऊब गये थे। आज के दूषित वातावरण का प्रभाव उनके मस्तिष्क और शरीर दोनों पर जबरदस्त रूप से पड़ा था। इसीलिए, उनकी गतिविधि में शिथिलता आने लगी थी। अचानक एक दिन उन्हें हल्का दिल का दौरा मालूम हुआ था। उसे उन्होंने ईश्वर की पुकार समझा। वे अपनी इच्छा से शनैः-शनैः सारी कामनाओं को अपने से अलग हटाते हुए एक दिन महाशान्त शून्य में विलीन हो गये! हम चाहते हैं, जहाँ भी वे रहें, भारतवासियों को आध्यात्मिक प्रेरणा देते रहें।

△ बनारसीप्रसाद भोजपुरी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आर्यभट और भारतीय ज्योतिष-विज्ञान

△ डॉ० उपेन्द्र ठाकुर

राजनीतिक पृष्ठभूमि :

भारत के सांस्कृतिक क्षितिज पर आर्यभट एक ऐसे जाज्वल्यमान नक्षत्र की भाँति हैं, जिनकी प्रखर ज्योति से भारतीय ज्योतिष-विज्ञान सदियों से उद्भासित होता रहा है। रात्रि में तारा, ग्रह तथा नक्षत्रों से भरे स्वच्छ, धवल आकाश को देखने के बाद जो विस्मयकारी अनुभव होता है और प्रकृति के इन रहस्य-भरे भेदों को जानने की जो प्रबल उत्कण्ठा जाग्रत् होती है, वह सहसा पण्डितशिरोमणि, अद्भुत प्रतिभाशाली, महान् ज्योतिषी आर्यभट की याद दिलाती है, जिन्होंने सर्वप्रथम ज्योतिष-शास्त्र का वैज्ञानिक अध्ययन कर इन रहस्यों का उद्घाटन ही नहीं किया, अपितु इस विज्ञान के साथ-साथ युग-युग से प्रचलित लोकधारणाओं, अन्धविश्वास एवं सामाजिक तथा धार्मिक मान्यताओं को बदल डाला, उन्हें एक नई दिशा दी, एक नये युग का उद्घोष किया। वास्तव में, आर्यभट भारतीय इतिहास की उन श्रेष्ठतम विभूतियों में हैं, जिन्होंने अपनी अक्षुण्ण देन से भारतीय संस्कृति के अन्तराल को ठोस एवं समृद्ध बनाया है।

आज से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व इस उद्भट वैज्ञानिक ने अपने अभूतपूर्व शोधकार्यों द्वारा विज्ञान-जगत् में जो क्रान्ति ला दी, उसका प्रमुख केन्द्र पाटलिपुत्र था। पाटलिपुत्र मौर्यकाल से ही भारत का प्रमुख राजनीतिक केन्द्र रहा है, जहाँ उत्तर भारत के सभी प्रसिद्ध राजवंशों की राजधानी थी। उसके राजनीतिक क्षितिज पर बड़ी ही द्रुतगति से नई और पुरानी शक्तियों का उदय और अस्त हो रहा था। यह वही रंगमंच था, जिसपर महापद्मनन्द, चन्द्रगुप्त मौर्य तथा अशोक जैसे सम्राट् अपनी-अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर इतिहास के गर्भ में विलीन हो चुके थे। यहीं नृशंस हत्या और खून-खराबी का सहारा लेकर विशाल मगध-साम्राज्य की स्थापना करनेवाला हिंसक सम्राट् अशोक कलिंग-युद्ध की विभीषिकाओं को देखकर हिंसा और तलवार की नीति में विश्वास खो चुका था। और, फलस्वरूप रणभेरी के स्थान पर उसने जिस 'धम्मभेरी' का उद्घोष किया, उसके निनाद से भारत तो क्या, समस्त दक्षिण-पूर्व तथा मध्य एशिया गुंजित हो उठा। फिर, गुप्तकाल में यहीं से सम्राट् समुद्रगुप्त ने जो रणभेरी बजाई, उसकी आतंक-भरी आवाज से क्या उत्तर, क्या दक्षिण, क्या पूर्व तथा क्या पश्चिम — सभी क्षेत्रों के शासक दहल उठे और उसके प्रभुत्व को नतमस्तक हो स्वीकार किया।

सांस्कृतिक क्षेत्र में भी इसका स्थान अन्यतम था। यहाँ सभी धर्मों के अनुयायियों को राजकीय संरक्षण प्राप्त था। गंगा नदी के उत्तर मिथिलांचल में, जहाँ हिन्दू-धर्म

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और दर्शन का बोलबाला था, वहीं उसके दक्षिण में मगध बौद्धधर्म एवं दर्शन का प्रमुख केन्द्र था। पाटलिपुत्र के समीपवर्त्ती विश्वविश्रुत नालन्दा-विश्वविद्यालय में भारत के अतिरिक्त, चीन तथा एशिया के विभिन्न देशों के विद्वान् ज्ञान की खोज में आया करते थे। स्वयं पाटलिपुत्र में गुप्त-सम्राटों का दरबार किसी महाविद्यापीठ से कम नहीं था, जहाँ के नवरत्न आज भी साहित्याकाश में नवग्रह की भाँति ज्योतित हो रहे हैं। ज्ञान-विज्ञान की कोई भी ऐसी शाखा नहीं थी, जिसपर इस युग में विद्वानों ने प्रकाश न डाला हो।

साथ ही, गुप्तशासकों के समय में भारत का सम्बन्ध विदेशों से होने के कारण ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में विचारों का आदान-प्रदान स्वाभाविक ही था। नदियों और समुद्र के माध्यम से विदेशों से विस्तृत पैमाने पर व्यापार होता था और उत्तरापथ के सार्थवाह बहुत बड़ी संख्या में उन देशों में जाते-आते थे, फलस्वरूप विदेशों में ज्ञान की प्रगति से यहाँ के विद्वान् पूर्णतया परिचित रहते थे और अपने शोधकार्यों में उसका पूरा लाभ उठाते थे। गुप्तों के समय, रोम से भी भारत का राजकीय सम्बन्ध था। भारतीय सीमाओं से सटे किदार, शक, कुषाण और पारसी-राजाओं के राज्य के कारण, अवसर सीमा-विवाद उठता और युद्ध होते, जिसके फलस्वरूप लोगों को पर्याप्त क्षति उठानी पड़ती। किन्तु, इससे एक लाभ अवश्य होता था—सम्राटों को विभिन्न देशों में हुई वैज्ञानिक प्रगति की सूचना ठीक-ठीक मिल जाती थी और वे उसका पूर्ण सदुपयोग भी करते थे।

अन्य शास्त्रों के अतिरिक्त, आयुर्वेद तथा ज्योतिष-शास्त्रों में भी यहाँ के लोगों की पर्याप्त रुचि थी और यहाँ के विद्वानों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का विदेशों में सम्मानपूर्वक अध्ययन किया जाता था। इन्हीं विद्वानों में आर्यभट भी एक थे, जिनका 'आर्यभटीयम्' ग्रन्थ इस बात का द्योतक है कि किस प्रकार एक अत्यन्त मेधावी गणितज्ञ ने समकालीन सिद्धान्तों का सूक्ष्म अध्ययन कर, उन्हें आत्मसात् कर, अपने नूतन सिद्धान्त विश्व के समक्ष रखे, जो बाद में अरब-विद्वानों के माध्यम से यूरोप तक पहुँचे तथा वहाँ के विद्वानों द्वारा आदृत हुए। और, इन सारी राजनीतिक तथा सांस्कृतिक ऊहापोहों का केन्द्रबिन्दु पाटलिपुत्र ही था।

जन्मस्थान और समय :

'पृथ्वी चलती है और सूर्य स्थिर है'—इस बात की सर्वप्रथम घोषणा वैज्ञानिक आर्यभट ने की थी, जिन्होंने महज २३ वर्ष की आयु में प्रसिद्ध ज्योतिष-ग्रन्थ 'आर्यभटीयम्, (सन् ५०० ई०) की रचना कर इस तथ्य को संसार के समक्ष रखा था। उनका जन्म कुसुमपुर (पुष्पपुर) अथवा पाटलिपुत्र (पटना) में सन् ४७६ ई० में हुआ था। प्राचीन काल में सम्भवतः यह एक परम्परा-सी हो चली थी कि बड़े-बड़े मनीषी, कवि, लेखक और दार्शनिक अपने ग्रन्थों में अपने जन्मस्थान, समय आदि के बारे में कुछ नहीं लिखते थे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फलस्वरूप, आज भी अधिकांश मनीषियों के सम्बन्ध में, उनके ग्रन्थों को छोड़कर, निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। आर्यभट इस नियम के अपवाद माने जा सकते हैं, कारण उन्होंने आज से डेढ़ हजार पूर्व अपने ग्रन्थ में अपना जन्मस्थान, जन्म-काल तथा पुस्तक-प्रणयन का समय दिया है, जिसकी गणना उन्होंने कलियुग के प्रारम्भ से की है।

'आर्यभटीयम्' में उन्होंने अपने जन्मस्थान पटना को कुसुमपुर लिखा है। उनमें आत्मविश्वास और पाण्डित्य-वोध अद्‌भुत था, जिसकी पुष्टि उनकी इस उक्ति से होती है: **'आर्यभटस्त्विह निगदति कुसुमपुरेऽभ्यर्चितं ज्ञानम्।'** ('कुसुमपुर में विशेष रूप से पूजित ज्ञान को आर्यभट कहते हैं।')[1] तात्पर्य यह कि वह समकालीन मनीषियों में अग्रगण्य थे, जिनके विलक्षण अनुसन्धान से पाटलिपुत्र गौरवान्वित हो चुका था।

पटना के कई नाम थे, जिनमें कुसुमपुर और पाटलिपुत्र विशेष रूप से प्रचलित थे। कालिदास ने 'रघुवंश' में इसे पुष्पपुर कहा है, 'रघुवंश' के टीकाकार मल्लिनाथ ने 'पाटलिपुत्र' तथा 'दशकुमारचरित' के लेखक दण्डी पुष्पपुरी। सुप्रसिद्ध दार्शनिक वाचस्पतिमिश्र ने इसे पाटलिपुत्र कहा है। इसी प्रकार, पतंजलि के 'महाभाष्य', 'लल्लसिद्धान्त', वायुपुराण तथा अन्य ग्रन्थों में भी कुसुमपुर अथवा पाटलिपुत्र का उल्लेख आया है। प्रायः सभी विद्वान् इस वात से सहमत हैं कि प्राचीन कुसुमपुर आधुनिक पटना था, जहाँ आर्यभट का जन्म हुआ था। किन्तु, शंकरबालकृष्ण दीक्षित ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय ज्योतिषशास्त्र' में इस मत का खण्डन किया है। उनके अनुसार, कुसुमपुर दक्षिण भारत में रहा होगा, कारण मालावार में 'आर्यभटीयम्' की पाण्डुलिपि मिली है, जिससे उनके दाक्षिणात्य होने का संकेत मिलता है, किन्तु उन्होंने एक दूसरे स्थान पर स्वयं ही अपने तर्क का यह कहकर खण्डन किया है कि लोग इस कुसुमपुर को पटना कहते हैं। पाण्डुलिपि-सम्बन्धी उनका तर्क हास्यास्पद प्रतीत होता है, कारण एक ही पुस्तक की पाण्डुलिपि कई स्थानों में मिल सकती है और इससे ग्रन्थप्रणेता का जन्म-स्थान निश्चित नहीं किया जा सकता। उस समय मुद्रण-सुविधा न होने के कारण वड़े-वड़े विद्वानों के ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ देश के विभिन्न भागों में तैयार कर उनका अध्ययन किया जाता था और वे प्रतियाँ आज भी यत्र-तत्र मिल जाती हैं। प्राचीन काल के सभी ग्रन्थ तथा विदेशी यात्रियों के विवरणों से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्राचीन कुसुमपुर अथवा पाटलिपुत्र आधुनिक पटना ही था।

जहाँ एक ओर हमें आर्यभट के जन्मस्थान का निश्चित पता चलता है, वहीं दूसरी ओर उनके वंश एवं परिवार के सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी नहीं मिलती।

---

१. आर्यभटीयम्, गणितपाद ११।२ (बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना द्वारा प्रकाशित तथा स्वर्गीय पण्डित बलदेव मिश्र द्वारा सम्पादित)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसलिए, यह कहना कठिन है कि आर्यभट किस वंश के थे और उनसे पहले उनके वंश में कौन-कौन विद्वान् पैदा हो चुके थे। उन्होंने 'आर्यभटीयम्' में अपने जन्म-काल के बारे में जो कुछ लिखा है, उससे स्पष्ट है कि उनका जन्म सन् ४७६ ई० में हुआ था और उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना सन् ५०० ई० में की थी, अर्थात् जब वह केवल २३ वर्ष के थे। इस प्रसंग में आर्यभट कहते हैं :

'षष्ट्यब्दानां षष्टिर्यदा व्यतीतास्त्रयश्च युगपादाः ।
त्र्यधिका विंशतिरब्दास्तदेह मम जन्मनोऽतीताः ॥'

(आर्यभटीयश्लोक)

तथा 'शाकोनवाद्रीन्दुकुशानु (३१७१) युक्तः कल्यब्दगणो व्यतीतः' (मकरन्द-सारणी)। अर्थात्, सत्ययुग, त्रेता तथा द्वापर— इन तीन युगों के बीत जाने पर और कलियुग के आरम्भ से साठ वर्षवाले गुरुवर्ष साठ बार बीत चुकने पर (अर्थात्, ६०×६०=३६०० वर्ष बीतने पर) इस ग्रन्थ (आर्यभटीयम्) की रचना मैंने (आर्यभट ने) उसके २३ वर्ष बाद की थी। अर्थात्, ३६००—२३=२५७७ वर्ष कलियुग के बीत जाने पर उनका जन्म हुआ था। और, चूँकि ३१७९ वर्ष बीत जाने के बाद शक-संवत् आरम्भ हुआ था, इसलिए क्रमशः ३९८ शक (३५७७–३१७९) उनका जन्मकाल (सन् ४७६ ई०) तथा सन् ४९९ ई० (४२१ शक) उनके 'आर्यभटीयम्' का रचनाकाल माना जायगा। प्रश्न उठता है कि जहाँ आर्यभट के परवर्त्ती अनुयायियों और विद्वानों ने अपने ग्रन्थ में शक-संवत् में तिथि का उल्लेख किया है, वहीं आर्यभट ने क्यों अपने ग्रन्थ के रचनाकाल का, कलियुग के प्रारम्भ से गणना कर, उल्लेख किया है ? इसके दो कारण हो सकते हैं— १. शक-संवत् के प्रति उनकी उदासीनता अथवा २. इस युग में शक-संवत् की लोक-प्रियता का अभाव। जैसा कि हम जानते हैं, आर्यभट के जन्मकाल के समय गुप्त-सम्राट् कुमारगुप्त द्वितीय और बुधगुप्त का शासनकाल था और गुप्त-साम्राज्य की समृद्धि-श्री बहुत हद तक बनी हुई थी। गुप्त-संवत् के साथ शक-संवत् भी प्रचलित था, फिर भी आर्यभट ने इसे महत्त्व न देकर अपना गणनाकाल कलियुग के प्रारम्भ से ही रखा। सम्भवतः, ज्योतिष में ग्रह-नक्षत्र की गति और युगपाद की प्रधानता को दृष्टि में रखकर उन्होंने प्रचलित संवत्-प्रणाली को छोड़ इस पद्धति का सहारा लिया, जो ज्योतिषियों में उस समय अतिशय लोकप्रिय थी। यहाँ यह बात स्मरण रखने योग्य है कि प्राचीन परम्परा में आर्यभट ही सर्वप्रथम ऐसे विद्वान् थे, जिन्होंने अपने ग्रन्थ में समय और तिथि का उल्लेख कर परवर्त्ती विद्वानों का मार्गदर्शन किया, कारण उनसे प्रेरित होकर ही बाद में ब्रह्मगुप्त तथा भास्कराचार्य ने अपने ग्रन्थों में अपने नाम, पिता के नाम, ग्रन्थ लिखने का समय तथा उस समय की अपनी उम्र और अपने जन्मस्थान का पूर्ण परिचय दिया है। इसलिए, हम जहाँ आर्यभट के केवल जन्मस्थान (पाटलिपुत्र) और समय (१३ अप्रैल, ४७६ ई०) के बारे में जानते हैं, वहीं उनके परवर्त्ती विद्वानों के सम्बन्ध में भी हमें उनके ग्रन्थों से पूरी जानकारी मिलती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आर्यभट ने अपने सम्बन्ध में जो चर्चा की है, उसकी पुष्टि वराहमिहिर की 'पंचसिद्धान्तिका' पुस्तक से होती है, जो ४२७ शक, अर्थात् सन् ५०५ ई० में लिखी गई थी। स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ 'आर्यभटीयम्' की रचना के महज पाँच वर्षों के बाद लिखी गई थी। इस प्रकार, दोनों समकालीन थे और 'पंचसिद्धान्तिका' की रचना के समय आर्यभट महज २८ वर्ष के थे। ब्रह्मगुप्त के 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' ग्रन्थ की रचना ५५० शक (सन् ६२८ ई०) में हुई थी, जिसमें उन्होंने स्थल-स्थल पर आर्यभट की चर्चा की है। आर्यभट इस ग्रन्थ की रचना के बहुत पहले ही यह संसार त्याग चुके थे।

आर्यभट ने अपने ग्रन्थ में अयनांश की चर्चा नहीं की है, अतः ज्योतिषविद्याविदों का अनुमान है कि उनके समय में अयनांशाभाव था। 'रघुवंश' के एक श्लोक के आधार पर टीकाकार मल्लिनाथ यह मानते हैं कि कालिदास के समय भी अयनांश नहीं रहा होगा।[1] अतः, आर्यभट और कालिदास को समकालीन मानना युक्तिसंगत होगा।

आर्यभटीयम् की रचना :

आर्यभट एक अद्वितीय गणितज्ञ तथा ज्योतिर्विद् थे, जिन्होंने भारतीय ज्योतिष-शास्त्र में फैली भ्रान्त धारणाओं का निराकरण कर, कई नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित किये, जो सर्वथा मौलिक हैं और आज भी गणित तथा ज्योतिष के क्षेत्र में अधिकारी मत के रूप में आदृत हैं। ज्योतिष-सम्बन्धी सिद्धान्त तथा गणित के सूत्र उनके एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ 'आर्यभटीय' में ही पाये जाते हैं, जो उनकी विलक्षण वैज्ञानिक प्रतिभा एवं दृष्टिकोण के द्योतक हैं।

उनके पूर्व प्रसिद्ध ज्योतिष-ग्रन्थ 'ब्रह्मसिद्धान्त' की रचना हो चुकी थी, जो ज्योतिष-शास्त्र पर एकमात्र अधिकारी ग्रन्थ माना जाता था। किन्तु, कालान्तर में उसमें कुछ ऐसे दोष आ गये थे, जिनका मार्जन आवश्यक था। इन दोषों को दूर कर तथा जीर्ण-शीर्ण विचारों को त्याग कर एक नये ग्रन्थ की रचना आवश्यक थी, कारण समय के साथ-साथ ग्रह-नक्षत्रों के स्थान और गति में परिवर्त्तन हो चुके थे, जिनपर पुनर्विचार आवश्यक था, अन्यथा ये दोष और भी बढ़ते जाते और ज्योतिष-शास्त्र में लोगों की आस्था नष्ट हो जाती। इसी उद्देश्य से उन्होंने अपने इस ग्रन्थ की रचना की, जिसमें प्रतिपादित नये सिद्धान्तों ने ज्योतिष तथा गणित के क्षेत्र में एक नई क्रान्ति ला दी, उसे एक नई दिशा प्रदान की।

आत्मबोध एवं आत्मविश्वास की प्रतिमूर्त्ति आर्यभट ने अपने ग्रन्थ के अन्तिम दो श्लोकों में बड़े ही विनीत भाव से इस ग्रन्थ-प्रणयन के पीछे अपने उद्देश्य की व्याख्या की है। वह है : "सत्-असत् ज्ञान-रूपी समुद्र में सत् ज्ञानरूपी जो उत्तम रत्न छिपा था,

---

१. पं० बलदेव मिश्र : आर्यभटीयम्, पृ० ४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसे मैंने परमेश्वर की कृपा से अपनी बुद्धि-रूपी नौका के द्वारा निकाला है और इसके पहले स्वयम्, अर्थात् ब्रह्मा द्वारा सर्जित जो सद्ज्ञान था, उसी को 'आर्यभटीय' के रूप में प्रकाशित कर रहा हूँ और जो कोई इसमें छिद्रान्वेषण अथवा दोषारोपण करने का प्रयास करेगा, उसके पुण्य और आयु का क्षय होगा।'[1]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि 'ब्रह्मसिद्धान्त' में बहुत-से दोष आ गये थे, जिनका मार्जन आवश्यक था। अतः, नाम से यह 'आर्यभटीय' अवश्य है, पर वास्तव में 'ब्रह्म-सिद्धान्त' का ही परिमार्जित रूप है। आर्यभट की इस उक्ति से एक बात और स्पष्ट हो जाती है कि 'ब्रह्मसिद्धान्त' ग्रन्थ जिस रूप में सम्प्रति उपलब्ध है, वह मूल 'ब्रह्म-सिद्धान्त' नहीं हो सकता, जिसके दोष-परिहार्य की चर्चा आर्यभट ने की है, कारण 'आर्यभटीयम्' में प्रतिपादित विषय के साथ उपलब्ध 'ब्रह्मसिद्धान्त' में चर्चित विषय-वस्तु का बिलकुल मेल नहीं है। अतः, यह कहना असंगत नहीं होगा कि मूल 'ब्रह्म-सिद्धान्त' लुप्त हो चुका है और उसका अन्वेषण विद्वानों द्वारा होना चाहिए, अन्यथा दोनों ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन सम्भव नहीं हो सकता। फलस्वरूप, दो महान् ज्योतिर्विदों के मतैक्य एवं मतभिन्नता के सम्बन्ध में हमें सही-सही जानकारी नहीं मिल सकती।

महज तेईस वर्ष की आयु में ऐसे विलक्षण ग्रन्थ का प्रणयन वास्तव में अभूतपूर्व सर्जनात्मक प्रतिभा का द्योतक है; क्योंकि इस उम्र में मन की चंचलता के कारण विचारों में परिपक्वता नहीं आ पाती और इसलिए ठोस गम्भीर सिद्धान्तों का प्रतिपादन तो कल्पनातीत ही है। किन्तु, महापुरुष साधारण नियम के अपवाद होते हैं और उनकी प्रतिभा स्थान, काल अथवा आयु के बन्धन में नहीं बँध पाती। अपनी चमत्कारपूर्ण कृतियों से इतिहास की धारा को बदल देनेवाले कर्मवीरों का जगत् ने सदा से ही स्वागत किया है, उन्हें शीर्षस्थान पर बैठाया है। आर्यभट भी ऐसे ही महापुरुषों में एक थे। साथ ही, प्राचीन भारतीय आश्रम-व्यवस्था कुछ इस ढंग की थी, जिसमें २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्यावस्था में रहकर प्रतिभाशाली व्यक्ति पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त कर सकते थे। चूँकि आर्यभट असाधारण प्रतिभा के थे, अतः २३ वर्ष की अवस्था में यदि उन्होंने ऐसा विशिष्ट ग्रन्थ लिख डाला, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

कुछ विद्वान् २३ वर्ष की आयु में आर्यभट द्वारा इस ग्रन्थ की रचना में सन्देह करते हैं। आर्यभट ने एक दूसरे ग्रन्थ 'आर्यभटसिद्धान्त' की भी रचना की थी, जिसके

---

१. 'आर्यभटीयम्', पृ० १११-११२ :
सदसद्ज्ञानसमुद्रात् समुद्धृतं देवताप्रसादेन।
सद्ज्ञानोत्तमरत्नं मया निमग्नं स्वमतिनावा॥ (श्लोक ४९)
आर्यभटीयं नाम्ना पूर्वं स्वायम्भुवः सदा सद्यत्।
सुकृतायुषोः प्रणाशं कुरुते प्रतिकञ्चुकं योऽस्य॥' (श्लोक ५०)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्ययन से यह शंका स्वभावतः उठ खड़ी होती है। स्वयं आर्यभट के अनुसार, 'आर्यभटीय' सन् ४९९ ई० में लिखा गया था, जबकि 'आर्यभटसिद्धान्त' में तिथि का उल्लेख नहीं मिलता। 'आर्यभटीय' में जहाँ एक ओर उनके द्वारा प्रतिपादित ज्योतिष एवं गणित के नये सिद्धान्त हैं, जो परम्परागत संकीर्ण विचारों का जोरदार खण्डन करते हैं, वहाँ 'आर्यभटसिद्धान्त' में पुरानी मान्यताओं एवं धारणाओं का प्रतिपादन है। साथ ही, एक ओर जहाँ ब्रह्मगुप्त तथा अन्य विद्वानों ने 'आर्यभटीय' की कटु आलोचना की है, वहीं 'आर्यभटसिद्धान्त' को छोड़ दिया है, सम्भवतः इसलिए कि उसमें पुराने सिद्धान्तों का प्रतिपादन है, जिनसे उनके मत मिलते हैं। इससे यह स्वाभाविक है कि यह ग्रन्थ पहले लिखा गया होगा और 'आर्यभटीय' बाद में।

विद्वानों का अनुमान है कि सम्भवतः युवावस्था में ही, विद्याध्ययन के तुरत बाद, आर्यभट ने 'आर्यभटसिद्धान्त' की रचना की होगी, किन्तु 'आर्यभटीय' की रचना उन्होंने गहन अन्वेषण एवं प्रयोग के पश्चात् प्रौढावस्था में की, जब उनके विचारों में प्रकाण्ड तेजस्विता और गम्भीरता आ चुकी थी। उन्होंने यह ग्रन्थ लिखने के पूर्व ज्योतिष एवं गणित-शास्त्रों के पुरातन तथा नूतन सिद्धान्तों की दुर्बलताओं एवं विलक्षणताओं का अध्ययन आकाश के ग्रह-उपग्रह तथा नक्षत्रों की गतिविधि को पर्याप्त समय तक एक-एक घण्टे पर सूक्ष्मतापूर्वक अवलोकन करके किया होगा। कारण, 'आर्यभटसिद्धान्त' के आर्यभट ने जहाँ पुराने सिद्धान्तों और मान्यताओं को प्रमुखता दी है, वहीं 'आर्यभटीय' के आर्यभट एक महान् क्रान्तिकारी एवं क्रान्तद्रष्टा के रूप में हमलोगों के समक्ष उपस्थित होते हैं, जिन्हें पुरानी सड़ी-गली परम्पराओं की तीव्र भर्त्सना और उनके स्थान पर नई मान्यताओं का प्रतिष्ठापित करने में लोकमत की जरा भी परवाह नहीं है। अतः, यह कहा जा सकता है कि 'आर्यभटीय' की रचना बाद में हुई, 'आर्यभटसिद्धान्त' की पहले। इस मत की पुष्टि अप्रत्यक्ष रूप से वराहमिहिर द्वारा भी होती है, जिन्होंने आर्यभट के दो ग्रन्थों का क्रमवद्ध उल्लेख किया है, जिनमें एक तो अर्द्धरात्रिक प्रणाली पर आधृत है और दूसरा औदयिक प्रणाली पर।[१] भास्कर प्रथम भी, जो आर्यभट-मत के पोषक हैं, यही मानते हैं कि 'आर्यभटीय' की रचना बाद में हुई थी।[२] उनके एक श्लोक[३] की व्याख्या करते हुए भास्कर कहते हैं : 'या यह भी सम्भव है कि पाण्डुरंगस्वामी, लाटदेव, निःशंकु तथा अपने अन्य शिष्यों को इस शास्त्र की शिक्षा देते हुए उन्होंने इसकी रचना की।'[४] 'आर्यभटीय' के गोलपाद, श्लोक ४८ की व्याख्या

१. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य : परमेश्वर झा : 'जर्नल ऑव दि बिहार रिसर्च सोसाइटी', सन् १९७२ ई०, पृ० १९१-९२।

२. उपरिवत्, पृ० १९२।

३. 'आर्यभटीय', ३।१०।

४. अन्य मत के लिए देखें, पी० सी० सेनगुप्ता : 'खण्डरनाधक', भूमिका।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करते हुए नीलकण्ठ ने भी कहा है कि 'आर्यभटीय' उनका दूसरा ग्रन्थ है, इससे पहले उन्होंने एक और ग्रन्थ की रचना की थी, जिसे उन्होंने 'पूर्वतन्त्र' कहा है ।[1]

पं० बलदेव मिश्र ने इस आशंका को निराधार बताते हुए कहा है कि व्यर्थ कल्पना करने के बजाय स्वयं 'आर्यभटीय' में दी गई यह उक्ति 'त्र्यधिका विंशतिरब्दास्तदेह मम जन्मनोऽतीताः' की व्याख्या ही इस मत के खण्डन के लिए पर्याप्त है । इसमें 'इह' शब्द से 'इह—ग्रन्थलेखनसमये' का बोध होता है, जिसका तात्पर्य है : इसी समय में मैंने (आर्यभट ने) इस ग्रन्थ को लिखा (यानी कलियुग के ३६०० वर्ष बीतने के बाद) । स्पष्ट है कि उस समय वह २३ वर्ष के थे और इन्हीं का अनुकरण कर ब्रह्मगुप्त एवं भास्कराचार्य ने अपनी पुस्तकों में अपनी-अपनी उम्र का उल्लेख किया है ।

दूसरी बात यह है कि जो विद्वान् 'आर्यभटीय' को बाद का ग्रन्थ मानते हैं, वे महज अनुमान से ही काम लेते हैं, उनके पास कोई ठोस प्रमाण नहीं है । यह भी तो सम्भव है कि 'आर्यभटसिद्धान्त' की रचना आर्यभट ने 'आर्यभटीय' की रचना के दो-एक वर्ष बाद की हो, जिसमें उन्होंने पुराने सिद्धान्तों का सहारा लिया । किन्तु, तेजस्वी पुरुष अधिक दिनों तक लीक के फकीर नहीं रहते और इसकी रचना के पश्चात् जब उन्होंने फिर से इन सिद्धान्तों पर विचार किया होगा, तो उन्हें इनमें काफी असंगतियाँ दृष्टिगोचर हुई होंगी और फिर अपने नये प्रयोगों, अन्वेषणों एवं सूक्ष्म पर्यवेक्षण के बल पर नये सिद्धान्त प्रतिपादित किये होंगे, जो 'आर्यभटीय' के रूप में 'आर्यभटसिद्धान्त' के तुरत बाद ही लोगों के समक्ष आये । दोनों ग्रन्थों के लेखक युवा आर्यभट ही थे : एक ग्रन्थ उनकी अध्ययनशीलता का परिचायक है, तो दूसरा उनकी पैनी निगाह और विलक्षण मननशीलता का । इसलिए, स्वयं आर्यभट द्वारा अपने ग्रन्थ में दिये गये प्रमाण को ही हम सही मानेंगे । अर्थात्, 'आर्यभटीय' की रचना के समय वह २३ वर्ष के थे और उससे एक-दो वर्ष पहले ही 'आर्यभटसिद्धान्त' लिखा जा चुका था ।

इस विलक्षण ज्ञान को प्रकाश में लाने के समय आर्यभट की जो उम्र थी, ठीक उसी उम्र में सन् १६५५ ई० में इँगलैण्ड के ट्रिनिटी कॉलेज से एम्० ए० परीक्षा में उत्तीर्ण होकर एक दिन अपने घर पर विचारों में निमग्न सर आइजक न्यूटन ने एक पेड़ से सेब को पृथ्वी पर गिरते देख संसार के समक्ष पृथ्वी की क्रान्तिकारी आकर्षण-शक्ति का सिद्धान्त रखा, जो आज भी वैज्ञानिकों के बीच आदृत है । वास्तव में, यह एक ऐसी अवस्था है, जब युवा मस्तिष्क बहुत सीखना चाहता है और उसमें नये-नये ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है । वैसे भी २० से २५ साल की अवस्था विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिए उपयुक्त मानी जाती है । इस समय एक ऐसी दिव्य दृष्टि होती है, जो किसी भी ज्ञान

---

१. 'आर्यभटीय' (नीलकण्ठ की व्याख्या-सहित), सम्पादक; एस्० के० पिल्लई, भाग ३, पृ० १२८ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को प्राप्त कर सकती है। आर्यभट अवश्य ही ऐसी ही दृष्टिवाले असाधारण व्यक्तित्व थे, जिनका अद्भुत ज्ञान 'आर्यभटीय' के रूप में आज हमलोगों के समक्ष है ।

'आर्यभटीय' की विशेषता और महत्त्व :

स्वयं आर्यभट के नाम पर इस ग्रन्थ का नाम 'आर्यभटीय' पड़ा है, अर्थात् आर्यभट द्वारा लिखा हुआ। पं० बलदेव मिश्र के अनुसार, चूँकि उनके नाम के साथ 'आर्य' शब्द जुड़ा हुआ है, इसलिए उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना संस्कृत के 'आर्या' छन्द में की है।[1] यह ग्रन्थ बहुत छोटा है और इसमें कुल ५० श्लोक हैं, किन्तु इन्हीं श्लोकों ने गणित एवं ज्योतिष के क्षेत्र में युगान्तरकारी परिवर्त्तन उपस्थित किया। छोटा रहने पर भी यह ग्रन्थ चार भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में ११ श्लोक हैं और इसे 'गीतिकापाद' कहा गया है। इसमें युगों तथा ग्रहभगणों के प्रमाण, पृथ्वी की गति, मन्दोच्च-शीघ्रोच्च भगण आदि एक विचित्र संकेत में दिये गये हैं। साथ ही, अक्षरों और मात्राओं से अंक बनाये गये हैं। अक्षरों से इस प्रकार अंक बनाये जा सकते हैं, इसका प्रथम उल्लेख हमें जैमिनीयसूत्र के ज्योतिष के फलित ग्रन्थ में मिलता है। फिर, जैमिनि के संकेत तथा आर्यभट के संकेत में भिन्नता है। आर्यभट की भाँति ही अक्षरों के माध्यम से अंक का ज्ञान ग्रीक ज्योतिर्विदों ने भी किया था।

चौथी-पाँचवीं सदी में यवनों (ग्रीकों) का पाटलिपुत्र में आवागमन था। ये ग्रीक ज्योतिष-विद्या में बड़े ही पारंगत होते थे, जिनकी भूरि-भूरि प्रशंसा वराहमिहिर ने की है तथा अपने 'बृहज्जातक' ग्रन्थ में उन्होंने कई यवन-शब्दों का प्रयोग भी किया है। अपने ज्योतिषसिद्धान्त-ग्रन्थ 'पंचसिद्धान्तिका' में उन्होंने जिन पोलिश तथा रोमक सिद्धान्तों की चर्चा की है, वे निश्चय ही विदेशी हैं। और, चूँकि आर्यभट तथा वराह-मिहिर के समय में बहुत कम अन्तर है, इसलिए ऐसा अनुमान स्वाभाविक है कि वराह-मिहिर की भाँति आर्यभट भी ग्रीक विद्वानों के सम्पर्क में आये होंगे। किन्तु, यह कहना कि आर्यभट ने अक्षरों से अंकों का ज्ञान ग्रीक विद्वानों से सीखा, कतई युक्तिसंगत नहीं मालूम पड़ता। कारण, 'स्वरों से उन्होंने जिन स्थानों और शून्यों का ज्ञान किया है, उनका ज्ञान यवनों को भी रहता।'[2] पर, बात ऐसी नहीं है। उसके विपरीत, यवनों को इसका ज्ञान कतई नहीं था, अतः इस रीति अथवा सिद्धान्त के प्रथम निर्माता आर्यभट ही थे।

भारत में प्राचीन काल से ही कम समय में गणित हल करने की प्रथा प्रचलित रही है और तदनुकूल आर्यभट ने वर्णाक्षरों और आँकड़ों का समन्वय कर ज्योतिष-शास्त्र की अपनी स्वतन्त्र परिभाषा दी। किन्तु, इस प्रकार के नवीन संकेत में उन्होंने इन वस्तुओं (भगणों) को क्यों रखा, यह विचारणीय है। ठीक यही कार्य पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी'

१. पं० बलदेव मिश्र : 'आर्यभटीय' (सम्पादित), पृ० ६।

२. उपरिवत्, पृ० ७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की रचना में किया था। इसके पीछे सम्भवतः एक उद्देश्य यह भी रहा होगा कि विद्यार्थियों के लिए इसका पठन-पाठन सुलभ हो जाय। साथ ही, ऐसा विशिष्ट ज्ञान सर्वविदित न होकर उन्हीं जिज्ञासुओं तक सीमित रहे, जो इसके वास्तविक अधिकारी हैं। यह गुप्त विद्या सबको नहीं दी जानी चाहिए, शास्त्र की भी ऐसी ही मान्यता है। ठीक ऐसी ही परिपाटी ग्रीस में भी थी, जहाँ रेखागणित के सिद्धान्त सर्वप्रथम प्रतिष्ठापित किये गये थे। वहाँ जिस घर में यह विद्या सिखाई जाती थी, उसके द्वार पर स्पष्ट शब्दों में लिखा रहता था 'इसमें अभिज्ञ लोग ही प्रवेश करें'।[1]

कहते हैं, जब अरस्तू (अरिस्टॉटल) ने एक पुस्तक प्रकाशित की, तो सिकन्दर ने एक पत्र द्वारा उनके समक्ष अपना विरोध प्रदर्शित करते हुए लिखा कि जिस विद्या के कारण वे लोग अपने को दूसरों से श्रेष्ठ समझते हैं, यदि वही सार्वजनिक हो जायगी, तो उनका अपना क्या रह जायगा ? अरस्तू ने इस पत्र का जो उत्तर दिया, वह मनोरंजक होने के साथ-साथ सारगर्भ भी है। उसने लिखा : 'मैं इस अपूर्व ज्ञान (विद्या) को प्रकाश में ले आया हूँ और नहीं भी लाया हूँ।' तात्पर्य यह कि उसके प्रकाशित हो जाने पर भी उसे वही लोग समझ पायेंगे, जो उनकी शिष्य-परम्परा में दीक्षित हो चुके हैं।

इस प्रकार, प्राचीन काल में यह परम्परा-सी हो गई थी कि कोई भी देश अपने विशेष ज्ञान अथवा अपनी विशेष विद्या का रहस्य किसी दूसरे को नहीं बताना चाहते थे। यही प्रथा उस समय यूरोप में भी थी। आधुनिक काल में भी बड़े-बड़े देश अपनी खास वैज्ञानिक विधि तथा कार्यक्षेत्र-सम्बन्धी रहस्य किसी और देश को नहीं बताना चाहते। इसलिए, आर्यभट ने यदि उन भगणों की रक्षा संकेत द्वारा की, तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है ? थोड़े-से शब्दों में बहुत-सी बातें कही जा सकती हैं। और, यह भी सत्य है कि प्राचीन काल में इतने अंकों को प्रकाशित कराने का न तो कोई साधन ही था, और न ही उस समय लोग 'अङ्कस्य वामा गतिः' पद्धति से परिचित थे। अतः, यह कहा जा सकता है कि इस नवीन रीति का आविष्कार आर्यभट ने बड़ी-बड़ी संख्या को सहज ही व्यक्त करने के लिए किया। इसके पीछे चाहे जो भी उद्देश्य रहा हो, यह तो मानना ही पड़ेगा कि उन्होंने एक अभूतपूर्व प्रणाली को जन्म दिया, जिसका प्रभाव आज भी ज्यों-का-त्यों है। उदाहरणार्थ, आर्यभट ने एक ही श्लोक में इस प्रकार सभी अंकों को गूँथ दिया है कि उसे पढ़कर उनकी अलौकिक बुद्धि पर विस्मय होता है :

वर्गाक्षराणि वर्गेऽवर्गाक्षराणि कात् ङ्मौ यः।
खद्विनवके स्वरा नव वर्गेऽवर्गे न वान्त्यवर्गे वा ॥[2]

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए पं० बलदेव मिश्र ने कहा है : "साधारण अर्थ तो यही है कि वर्गस्थान में वर्गाक्षर को और अवर्गस्थान में अवर्गाक्षर को रखें। 'क'

१. आर्यभटीय' पृ० ७।
२. आर्यभटीय', पृ० १; श्लोक २ (बलदेव मिश्र-सम्पादित)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से एकादि संख्या जानें। ङ और म के योग से 'च' होता है। अट्ठारह शून्यस्थान में नौ स्वरों को वर्ग तथा अवर्गस्थान में रखें। इस प्रकार, नौ स्वरों को वर्ग तथा अवर्गस्थान में रखने के अनन्तर पुनः वर्ग-अवर्ग में उन्हीं स्वरों को रखें। विशेष अर्थ यह है कि व्याकरणशास्त्र में पाँच वर्ग हैं, जैसे क, ख, ग, घ, ङ कवर्ग; च, छ, ज, झ, ञ चवर्ग; ट, ठ, ड, ढ, ण टवर्ग; त, थ, द, ध, न तवर्ग; और प, फ, ब, भ, म पवर्ग।[1] साथ ही य, र, ल, व, श, ष, स, ह—इन आठ अक्षरों को अवर्ग कहा गया है। यद्यपि स्वर १६ हैं, तथापि केवल ह्रस्व स्वर को ही ग्रहण किया जाता है। दीर्घ स्वर की संख्या ९ है—अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ। इन ९ स्वरों से शून्यस्थान का बोध होता है, जब ये स्वर वर्गात्मक अक्षरों में मिलते हैं। वर्गाक्षरों में मिलकर वर्गवाले शून्य, अर्थात् शत, अयुत, प्रयुत इत्यादि का बोध कराते हैं और अवर्गाक्षरों में मिलकर अवर्गवाला शून्य—जैसे दश, सहस्र, लक्ष कोटि आदि शून्यस्थान का ज्ञान कराता है। उदाहरण के लिए, क से संख्या का बोध; जैसे क=१, ख=२, ग=३, घ=४, ङ=५, च=६, छ=७, ज=८, झ=९, ञ=१०, ट=११, ठ=१२, ड=१३, ढ=१४, ण=१५, त=१६, थ=१७, द=१८, ध=१९, न=२०, प=२१, फ=२२, ब=२३, भ=२४, म=२५, य=३०, र=४०, ल=५०, व=६०, श=७०, ष=८०, स=९०, ह=१००. ङ=५, म=२५ : दोनों के योग से ३० को 'च' कहा गया है।"[2]

इस तरह, आर्यभट ने व्यास-परिधि के सम्बन्ध पर जितना सूक्ष्म विचार किया है, वह आश्चर्यजनक है। उन्होंने पाटीगणित के प्रश्नों के हल करने की जो विधि बताई है, उससे स्पष्ट है कि उन्हें वर्ग-समीकरण का पूरा ज्ञान था। साथ ही, जिस कुट्टक-गणित को उन्होंने प्रतिरूपित किया, उसके विषय में यूरोपीय विद्वान् बहुत दिनों तक कुछ नहीं जानते थे।[3]

इस समय तक अरब देश भी विभिन्न शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन में पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके थे। वहाँ के विद्वानों का वैचारिक आदान-प्रदान भारतीय विद्वानों से भी होता था। कहना चाहिए कि अरब के विद्वान् यूरोप तथा भारत के बीच ज्ञान की कड़ी की भाँति थे। उन्होंने दोनों देशों के विद्वानों से बहुत कुछ सीखा और उनके साथ विचारों का आदान-प्रदान किया। इस प्रकार, ये जो कुछ हिन्दुओं से सीखते थे, उसे यूरोपीय विद्वानों तक पहुँचाते थे और उनसे सीखा हुआ ज्ञान भारतीय विद्वानों को देते थे। युक्लिड ज्योमेट्री (रेखागणित) का अनुवाद पहले अरबी-भाषा में ही हुआ था और बाद में शिवाजी के शासनकाल में पण्डित जगन्नाथ ने उसका अनुवाद संस्कृत-भाषा में किया। इसका 'रेखागणित' नामकरण सर्वप्रथम पण्डित जगन्नाथ ने

१. आर्यभटीय, पृ० ८।
२. विशेष विवरण के लिए देखें, उपरिवत् पृ० ८-९।
३. विशेष विवरण के लिए देखें, उपरिवत्, पृ० ९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही किया था। इसके पहले इसका नाम 'क्षेत्रमिति'[१] था। अरब विद्वानों ने बड़े आदर से ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ 'खण्डखाद्यकरण' का अनुवाद अरबी भाषा में कराया था और वहीं से वह विद्या यूरोप पहुँची। यों तो, हम यह ठीक-ठीक नहीं जानते कि अरबों के माध्यम से कौन-कौन-से गणित भारत से यूरोप गये,। किन्तु, इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि शून्यस्थान, दशमलव और बीजगणित तो अवश्य ही यहीं से उन देशों में गये थे।[१]

'आर्यभटीय' बहुत संक्षिप्त ग्रन्थ होने पर भी उसमें दुर्बोधता नहीं आई है। वास्तव में, उसकी रचना सिद्धान्तभूत महत्त्व के विषयों का प्रतिपादन करने के लिए ही की गई थी, व्यवहार में लाने के लिए नहीं। निस्सन्देह, वह एक महान् ज्योतिर्विद् थे, जिन्होंने गुरु और बुध—इन दो ग्रहों का भगणमान स्वयं निकाला और पूर्व-प्रचलित ग्रह-स्पष्टीकरण में सुधार किया।

ब्रह्मगुप्त आर्यभट के एक सौ वर्ष बाद हुए और उनका 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' अत्यन्त प्रसिद्ध है, जिसमें उन्होंने गणित तथा सिद्धान्त दोनों क्षेत्रों में आर्यभट से अधिक विषयों का उल्लेख किया है। किन्तु, सर्वप्रथम गणित-ज्योतिष पर ग्रन्थ लिखनेवाले आर्यभट ही थे, जिनका स्थान इस क्षेत्र में सर्वोपरि है। साथ ही, अनेक नवीन विषयों को उन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा से आलंकित किया। चाप और ज्या का सम्बन्ध तथा एक पाद के नब्बे अंश के भीतर पौने चार-चार अंश का चौबीस विभाग करके उनकी ज्याओं को जानने की प्रणाली तथा उनका मान लिखकर उन्होंने विस्मयकारी कार्य किया है।[२]

कुछ लोगों को यह शंका है कि आर्यभट ने अक्षरों से अंक बनाने की विधि सम्भवतः यवनों (विदेशियों) से सीखी। साथ ही, उनका यह भी आक्षेप है कि कठिन गणितों को बिना उपपत्ति का कहकर आर्यभट ने इन्हें दूसरों से लेकर केवल रीतिमात्र लिख दिया है। परन्तु, यदि हम ध्यानपूर्वक अपने प्राचीन साहित्य का अध्ययन करें, तो देखेंगे कि सर्वप्रथम जैमिनीयसूत्र के द्वारा अंकों के ज्ञान की विधि की चर्चा की गई है। साथ ही, उन्होंने स्पष्ट तौर पर यह कहा है कि यह विषय उन्होंने 'ब्रह्मसिद्धान्त' से लिया। वास्तव में, आर्यभट द्वारा प्रतिपादित अनेक गणित-सिद्धान्त यूरोपवालों को पन्द्रहवीं शताब्दी तक ज्ञात नहीं थे। वराहमिहिर यवनों के अधिक सम्पर्क में थे, अतः सम्भव है कि कुछ ज्ञान उन्होंने उनसे सीखा हो। यदि आर्यभट यह ज्ञान यवनों से प्राप्त करते, तो उनके पीछे हाथ धोकर पड़नेवाले छिद्रान्वेषी ब्रह्मगुप्त अवश्य ही इसकी ओर संकेत करते।

---

१. आर्यभटीयः, पृ० १०।

२. विस्तृत विवरण के लिए द्र०, आर्यभटीय : पं० बलदेव मिश्र, पृ० १०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बगदाद के खलीफा आलमंसूर के दरबार में ब्रह्मगुप्त के किसी शिष्य को बुलाया गया था, जो ब्रह्मगुप्त के सिद्धान्त को अच्छी तरह जानता था और वहीं पर ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थों का अरबी-भाषा में अनुवाद कराया गया, जिसे अरब के विद्वानों ने यूरोप तक पहुँचाया। यदि यूरोप के विद्वान् इस विद्या को पहले से ही जानते होते, तो अरबों से इसे सीखने की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं होती।

आर्यभट के अन्य ग्रन्थ :

बहुत दिनों तक विद्वानों का ऐसा विश्वास था कि आर्यभट ने केवल एक ही ग्रन्थ 'आर्यभटीय' लिखा, किन्तु ब्रह्मगुप्त के 'खण्डखाद्यकरण' ग्रन्थ एवं उसपर वरुण द्वारा की गई टीका (शक ९६२ = १०४० ई०) से स्पष्ट है कि आर्यभट ने कुछ विस्तृत करण-ग्रन्थ अवश्य लिखे होंगे। आर्यभट के पश्चात् ज्योतिष-शास्त्र पर लिखनेवाले विद्वानों को 'आर्यभटीय' के अलावा उनके दूसरे ग्रन्थ भी उपलब्ध थे, जो अब लुप्त हो चुके हैं।

इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि ज्योतिष-शास्त्र पर आर्यभट ने 'आर्यभटीय' के अतिरिक्त और भी ग्रन्थ लिखे थे। वराहमिहिर ने, जो उनके निकट समकालीन (सन् ५०५ ई०) थे, आर्यभट के दो ग्रन्थों की ओर संकेत करते हुए उनमें पाई जानेवाली विभिन्नता पर प्रकाश डाला है। ब्रह्मगुप्त ने भी इन दो ग्रन्थों का उल्लेख करते हुए उनमें चर्चित परस्पर विरोधी सिद्धान्तों की ओर संकेत किया है। उन्होंने आर्यभट की महत्ता स्वीकार करते हुए घोषणा की है कि उनके ग्रन्थ 'खण्डखाद्यकरण' में वही निष्कर्ष हैं, जो आर्यभट के महान् ज्योतिष-ग्रन्थ में हैं।[1] किन्तु, जैसा कि हमलोग जानते हैं, 'खण्ड-खाद्यकरण' 'आर्यभटीय' में प्रतिपादित सिद्धान्तों से सहमत नहीं है और यह अनुमान स्वाभाविक है कि ब्रह्मगुप्त ने आर्यभट के दूसरे ग्रन्थ के सन्दर्भ में ऐसा कहा है, जिसके आधार पर 'खण्डखाद्यकरण' की उन्होंने रचना की होगी।

जैसा पहले कहा गया, भारतीय ज्योतिष-शास्त्र की दो पद्धतियाँ हैं—एक औदयिक पद्धति और दूसरी अर्द्धरात्रिक पद्धति। 'आर्यभटीय' पहली पद्धति पर आधृत है और उनका दूसरा ग्रन्थ द्वितीय पद्धति पर, जिसका उल्लेख वराहमिहिर तथा ब्रह्मगुप्त ने किया है। इसकी पुष्टि भास्कर प्रथम (७वीं सदी)-कृत 'महाभास्करीय' के कुछ श्लोकों से भी होती है। भास्कर आर्यभट के सिद्धान्तों के प्रबल समर्थकों में एक थे। भास्कर ने उनके दूसरे ग्रन्थ का नाम नहीं दिया है, किन्तु उसे 'तन्त्रान्तर' (दूसरा तन्त्र) कहा है।[2] महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी का भी ऐसा ही मत है।[3]

---

१. ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त, १५।२०।
२. 'जर्नल ऑव दि बिहार रिसर्च सोसाइटी', सन् १९७२ ई० (डॉ० परमेश्वर झा का लेख), पृ० १८८–९०।
३. ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त, ११।१३ (म०म० सुधाकर द्विवेदी की टीका, वाराणसी)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भट्टोत्पल (१०वीं सदी) ने भी अपने 'बृहत्संहिताभाष्य', में इसका समर्थन किया है।[१] अलबेरूनी ने भी अपनी पुस्तक में इसी प्रसंग में उनके दूसरे ग्रन्थ की चर्चा की है।[२] इसके अतिरिक्त, एस्० बी० दीक्षित[३], पी० सी० सेनगुप्त,[४] के० एस्० शुक्ल,[५] आर्० एन्० राय[६] तथा अन्य विद्वान् भी इस मत को मानते हैं। आर्यभट के इस दूसरे ग्रन्थ का नाम 'आर्यभटसिद्धान्त' था, जो रामकृष्ण आराध्य (सन् १४७२ ई०), तम्मयज्वा (सन् १५९९ ई०) तथा भूधर (सन् १५७२ ई०) के ग्रन्थों से स्पष्ट है। उनसे यह भी स्पष्ट है कि 'आर्यभटसिद्धान्त' 'आर्यभटीय' के विपरीत एक विस्तृत ज्योतिष-ग्रन्थ था।[७]

इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त आर्यभट ने सम्भवतः एक तीसरे ग्रन्थ की भी रचना की है, जिसका नाम 'सूर्यसिद्धान्तप्रकाश' था। डॉ० भाई दाजी, मुनीश्वर (सन् १६०३ ई०) तथा अन्य विद्वान् इस मत से सहमत हैं।[८] किन्तु, इस मत के पक्ष में प्रमाण नहीं के बराबर हैं। प्राचीन काल के किसी भी लेखक ने (जिसमें वराहमिहिर भी सम्मिलित हैं) इसकी चर्चा नहीं की है। यों, ठोस प्रमाण का अभाव है, फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि 'सूर्यसिद्धान्त' पर एक अत्यन्त लोकप्रिय एवं पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ लिखा गया था, जिसके लेखक सम्भवतः आर्यभट ही थे। इस बात के भी प्रमाण मिले हैं कि आर्यभट ने कुछ मुक्तक छन्दों की भी रचना की थी, जिनमें कुछ बाद के ज्योतिष एवं गणित-ग्रन्थों में उद्धृत किये गये हैं। भास्कर प्रथम ने भी अपने ग्रन्थ में कुछ ऐसे श्लोक दिये हैं। इन श्लोकों से यह स्पष्ट है कि आर्यभट को नक्षत्रों के मन्दोच्च तथा पात एवं उनकी गतिविधि का पूरा ज्ञान था, किन्तु इसकी चर्चा उन्होंने 'आर्यभटीयम्' में नहीं की है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि आर्यभट ने ज्ञान की विभिन्न शाखाओं पर कई ग्रन्थ लिखे थे, जिनमें अधिकांश अब लुप्त हो चुके हैं। यदि इन ग्रन्थों का पता

---

१. 'बृहत्संहिता' (भट्टोत्पल टीका-सहित); म० म० सुधाकर द्विवेदी, वाराणसी, सन् १८९५ ई०, भाग १, पृ० २४—२९, ३६—३८ तथा ४६—५३।
२. 'अलबेरूनीज इण्डिया', अनु० सचौ, लन्दन, सन् १९१० ई०, भाग १, पृ० १५६; भाग २, पृ० १९०।
३. 'भारतीय ज्योतिष' (हिन्दी), लखनऊ, सन् १९६३ ई०, पृ० २७२-७३ तथा ३०८-९।
४. 'खण्डखाद्यकरण' (सम्पादित), भूमिका, पृ० ११ (कलकत्ता, सन् १९३४ ई०)।
५. 'गणित', सन् १९६७ ई०, पृ० ८३—१०५।
६. 'इण्डियन' 'जर्नल ऑव हिस्ट्री ऑव साइन्स', भाग ६ (सन् १९७१ ई०), पृ० १४७—१५१।
७. परमेश्वर झा, उपरिवत्, पृ० १९०—९३।
८. उपरिवत्, पृ० १९३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिला, तो निश्चय ही वे भारतीय ज्योतिष एवं गणित-शास्त्र के लिए अत्यन्त उपादेय सिद्ध होंगे, कारण इनसे आर्यभट की विलक्षण उपलब्धियों पर और भी अधिक प्रकाश पड़ेगा।

पृथ्वी की आकृति और गति :

आर्यभट ने अपने ग्रन्थ 'आर्यभटीय' में जिस 'अभ्यर्चितं ज्ञानम्' की घोषणा की है, उसकी व्याख्या करते हुए उनके प्रथम टीकाकार भास्कर प्रथम ने कहा है कि 'पोलिश-रोमक—वशिष्ठ सूर्य-सिद्धान्त के रहने पर भी कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) के विद्वानों ने ब्रह्मसिद्धान्तमूलक इसी सिद्धान्त का बहुत आदर किया था।'[1] यह सही है कि आर्यभट के समय में ज्योतिष के और भी सिद्धान्त थे, किन्तु वे दृग्गणितैक्य करनेवाले नहीं थे। 'दृग्गणितैक्य' का अर्थ है शास्त्र के द्वारा ग्रह का मान निकालना, जो प्रत्यक्ष दृष्टि से देखने पर तदनुरूप प्रतीत हो। कहा गया है, 'प्रत्यक्षं ज्योतिषं शास्त्रम्', अर्थात् ज्योतिष-शास्त्र प्रत्यक्ष है। अतः, जिस गणित के सिद्धान्त से ग्रह प्रत्यक्ष देखने में आये, वही मान्य है। अतः, यह अनुमान करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि 'आर्यभटीय' के पहले ज्योतिष के जो ग्रन्थ थे, उनके सिद्धान्तों से ग्रहादि प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं हो पाते थे। सम्भवतः, इसी कारण वराहमिहिर ने 'पंचसिद्धान्तिका' लिखी थी, जिसमें पाँच आचार्यों के मतों की विवेचना की गई है। किन्तु, 'आर्यभट ने ऐसा नहीं कर 'ब्रह्मसिद्धान्त' के आधार पर नवीन तथ्यों को ढूँढ़ निकाला, जिनसे ग्रहादि ठीक प्रत्यक्ष होने लगे और इसी कारण इस ग्रन्थ की इतनी लोकप्रियता हुई।

जहाँतक ग्रहण का कारण है, आर्यभट के पहले किसी भी विद्वान् ने वैज्ञानिक पद्धति से इसका कारण नहीं बताया था, किन्तु सर्वप्रथम आर्यभट ने अपने ग्रन्थ में ग्रहण की ठीक-ठीक विधि भी बताई। यह साधारण खोज नहीं थी, इसी कारण लोगों ने इनके ज्ञान को 'अभ्यर्चितं ज्ञानम्' की संज्ञा दी। साथ ही 'आर्यभटीय' बहुत छोटा ग्रन्थ होने पर भी अर्थ-गाम्भीर्य से भरा हुआ है और 'गागर में सागर' की कहावत को अक्षरशः चरितार्थ करता है।[2]

चाहे किसी भी दृष्टि से देखें, यह निर्विवाद है कि आर्यभट एक स्वतन्त्र विचारक थे और 'शास्त्रों में स्वतन्त्र शास्त्रज्ज्योतिष' पर निर्भीकतापूर्वक, स्वतन्त्र रूप से युक्तिसंगत विचार व्यक्त किये हैं, कारण ज्योतिष-शास्त्र में युक्ति को प्रधानता दी गई है, प्रमाण को नहीं। सूर्यग्रहण के सम्बन्ध में प्रचलित लोकधारणा 'राहु नामक राक्षस अपने अन्धकार से सूर्य को छिपा लेता है' के विपरीत आर्यभट ने यह घोषणा की कि सूर्य को चन्द्रमा और चन्द्रमा को पृथ्वी छाया से ढक लेती है ('छादयति शशी सूर्यं शशिनं च

१. आर्यभटीय : पं० बलदेव मिश्र, पूर्ववत्, पृ० १८।

२. विस्तृत विवरण के लिए द्र०, आर्यभटीयः पं० बलदेव मिश्र, पूर्ववत्, पृ० १९—२१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूच्छाया')। इसी तरह पुराण के कथन---'पृथ्वी दर्पण के पेट की तरह है' की परवाह न कर पाटलिपुत्र के इस उद्भट विद्वान् ने केवल शास्त्रीय आधार पर यह कहकर 'पृथ्वी कदम्ब-पुष्प के समान गोल है' ---भूगोल के आधुनिक सर्वसम्मत सिद्धान्त को आज से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व स्थापित किया था।[1]

और, पृथ्वी न केवल गोल है, उसकी दैनन्दिन गति भी है, अर्थात् वह चलती है—यह युगान्तरकारी घोषणा भी सर्वप्रथम इसी विद्वान् ज्योतिर्विद् ने की थी।[2] यद्यपि आर्यभट ने प्रत्यक्ष रूप से यह नहीं कहा है कि पृथ्वी सूर्य के चारों और प्रदक्षिणा भी करती है, तथापि 'पृथ्वी चलती है' कहकर उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से यह भी कह दिया है, कारण उस समय के ज्योतिषियों का यह विश्वास था कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य उसके चारों ओर प्रदक्षिणा करते हैं। किन्तु, जब आर्यभट ने यह कहा कि पृथ्वी चलती है, तो निश्चय ही उनकी यह दृढ धारणा रही कि सूर्य स्थिर है।

उनकी इस मान्यता के कारण तत्कालीन तथा परवर्त्ती गणकों एवं ज्योतिषियों ने उनपर दोषारोपण किया है और उनकी कटु आलोचना भी की है। मानव-जाति का यह दुर्भाग्य रहा है कि जब कभी किसी मनीषी ने प्रचलित लोकधारणाओं तथा अन्ध-विश्वास के विरुद्ध सत्य को आरोपित करने का प्रयास किया है, तब उसे तरह-तरह की यातनाएँ और मृत्युदण्ड तक दिये गये हैं। सत्य की ही रक्षा के लिए ईसा मसीह को फाँसी के तख्ते पर लटकाया गया, सुकरात को जहर का प्याला पीना पड़ा और इटली के विख्यात ज्योतिषी गेलीलियो को असीम यातनाएँ सहनी पड़ी थीं, कारण उसने भी 'पृथ्वी चलती है' का नारा यूरोप में बुलन्द किया था, जब कि वहाँ उस युग में असहिष्णुता एवं अन्धविश्वास की पराकाष्ठा थी। ऐसा नारा धर्म-विरोधी था और इसके लिए कोई भी सजा कम ही थी। आर्यभट इस अर्थ में भाग्यवान् थे, कारण वह एक ऐसे देश (भारतवर्ष) में पैदा हुए थे, जहाँ अन्धविश्वास एवं प्रचलित धार्मिक मान्यताओं की रक्षा के लिए किसी भी ऐसे मनीषी अथवा चिन्तक को किसी प्रकार की यातना कभी नहीं दी गई, जिसने उसके विरुद्ध आवाज उठाई। हाँ, उनके मतों की विद्वानों द्वारा खूब जमकर आलोचना हुई और फिर एक ऐसा भी समय आया, जब उनके द्वारा स्थापित सिद्धान्त तर्क एवं युक्ति की कसौटी पर खरा उतरने पर सर्वमान्य हो गया। शुरू में ब्रह्मगुप्त आदि ज्योतिषियों ने उनके मतों की आलोचना अवश्य की, पर

---

१. 'यद्वत् कदम्बपुष्पग्रन्थिः प्रचितः समन्ततः कुसुमैः।
तद्वद्धि सर्वसत्त्वैर्जलजैः स्थलजैश्च भूगोलः॥
(आर्यभटीय, पृ० ८२, श्लोक ७)

२. अविलोमगतिर्नौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत्।
अचलानि भानि तद्वत् समपश्चिमगानि लङ्कायाम्॥ (उपरिवत्, गोलपाद)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बाद में सभी ज्योतिषी इस सिद्धान्त को मानने लगे कि सूर्यग्रहण चन्द्रमा की छाया और चन्द्रग्रहण पृथ्वी की छाया के कारण होते हैं और पृथ्वी चलती है तथा वह सूर्य के चारों ओर प्रदक्षिणा करती है।

और तो और, आर्यभट की मौके-बेमौके आलोचना करनेवाले छिद्रान्वेषक ब्रह्मगुप्त ने जब वृद्धावस्था में 'खण्डखाद्यकरण' ग्रन्थ की रचना की, तो उन्होंने प्रारम्भ में ही आर्यभट के श्रेष्ठत्व को इन शब्दों में स्वीकार किया : 'आचार्य आर्यभट के समान मैंने इस ग्रन्थ की रचना की है, कारण 'आर्यभटीय' द्वारा दैनन्दिन कार्य होना कठिन है, फिर भी विवाह-जातक आदि में इस ग्रन्थ से भी उसी के सदृश फल होगा : **'वक्ष्यामि खण्डखाद्यकमाचार्यार्यभटतुल्यम्...'**)।

ब्रह्मगुप्त के विचारों में इस प्रकार का परिवर्त्तन क्यों हुआ ? ऐसा लगता है कि युवावस्था (३० वर्ष) में प्रथम ग्रन्थ लिखने के समय उनके विचार उतने परिपक्व नहीं थे और भावावेश में आकर उन्होंने आर्यभट के सिद्धान्तों की आलोचना की; किन्तु ६९ वर्ष की आयु में जब उन्होंने अपना 'खण्डखाद्यकरण' ग्रन्थ लिखा था, तब बात कुछ और ही थी। युवा ब्रह्मगुप्त तथा वृद्ध ब्रह्मगुप्त में अब जमीन-आसमान का अन्तर हो चला था। निरन्तर अध्ययन तथा गूढ चिन्तन के पश्चात् ब्रह्मगुप्त को निश्चय ही अपनी भूल पर पश्चात्ताप हुआ होगा और तब उन्होंने आर्यभट को आचार्य के रूप में स्वीकार किया। साथ ही, उनके आर्यभट-विरोधी सिद्धान्तों की भी विद्वानों द्वारा खूब आलोचना हुई। उनके द्वारा की गई निन्दा की निन्दा और आर्यभट की अभूतपूर्व लोकप्रियता से घबड़ाकर उन्होंने अवश्य ही यह सोचा होगा कि आर्यभट की आलोचना करने से उनके ग्रन्थ का कतई आदर नहीं होगा। इसी भय से उन्होंने 'खण्डखाद्यकरण' में आर्यभट की प्रशंसा तो की, किन्तु जैसा उन्होंने कहा, वैसा किया नहीं। उन्होंने सब कुछ अपने मनोनुकूल ही किया है, आर्यभट का आश्रय सिर्फ आलोचना से बचने का प्रयास-मात्र है। जिस तरह ब्रह्मगुप्त ने अपने सिद्धान्त-ग्रन्थ में आर्यभट की निन्दा की है, ठीक उसी प्रकार आर्यभट के महान् समर्थक बटेश्वराचार्य ने जहाँ एक ओर आर्यभट का समर्थन किया है, वहीं दूसरी ओर ब्रह्मगुप्त की तीव्र भर्त्सना भी की है।[1]

आर्यभट के समकालीन और परवर्त्ती आचार्य :

जहाँ एक ओर आर्यभट ने ब्रह्मा के अतिरिक्त और किसी की चर्चा अपने ग्रन्थ में नहीं की है, वहीं उनके समकालीन तथा परवर्त्ती आचार्यों ने किसी-न-किसी रूप में उनकी चर्चा अवश्य की है।

वराहमिहिर उनके समकालीन थे और 'आर्यभटीय' की रचना (४२१ शक) के ६ वर्षों बाद (४२७ शक) उन्होंने अपनी 'पंचसिद्धान्तिका' पुस्तक लिखी थी। उन्होंने आर्यभट द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त (पृथ्वी चलती है : भूभ्रमण) का खण्डन किया है।

१. आर्यभटीय, भूमिका, पृ० २५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ब्रह्मगुप्त ने तो मानों इस बात का बीड़ा ही उठा लिया था कि आर्यभट के मतों का खण्डन किया जाय, चाहे वे सही हों अथवा गलत, सत् हों या असत्। किन्तु, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अपने 'खण्डखाद्यकरण' में उन्होंने आर्यभट का ही सहारा लिया है। भास्कराचार्य ने भी अपनी 'सिद्धान्तशिरोमणि' पुस्तक में आर्यभट की चर्चा की है। तात्पर्य यह कि बड़े या छोटे—सभी ज्योतिष-ग्रन्थकारों ने उनकी चर्चा अपने ग्रन्थों में की है। और, यह उचित भी है। कारण, ज्योतिष के आचार्यपौरुष ग्रन्थकारों में सर्वप्रथम वही हुए हैं।

वराहमिहिर ने वार-वार अपने ग्रन्थ में आर्यभट की चर्चा की है और उनके ग्रन्थ के विषय का खण्डन किया है, जबकि दोनों के ग्रन्थों के रचनाकाल में महज छह वर्षों का ही अन्तर है। विद्वानों का ऐसा मत है कि आर्यभट और वराहमिहिर दोनों एक ही नगर के रहनेवाले थे। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि उनकी 'पंचसिद्धान्तिका' को छोड़कर प्रायः सभी ग्रन्थों पर टीका लिखनेवाले महापण्डित भट्टोत्पल (८८८ शक= सन् ९६६ ई०) ने 'बृहत्संहिता' की टीका में वराहमिहिर को 'मगधद्विज' या 'मगद्विज' कहा है, जिससे स्पष्ट है कि वह मगध के ब्राह्मण अथवा शाकद्वीपीय ब्राह्मण थे। चूँकि वह सूर्योपासक थे, इसलिए शाकद्वीपीय होना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। कारण सभी ग्रन्थों के आरम्भ में उन्होंने भगवान् सूर्य की स्तुति की है। इनके पिता का नाम सूर्यदास तथा इनका नाम वराहमिहिर (सूर्य) होने के कारण यह धारणा और भी पुष्ट हो जाती है। साथ ही मगध में शाकद्वीपीय ब्राह्मण प्राचीन काल से ही काफी संख्या में पाये जाते रहे हैं। जीविकोपार्जन के लिए बाद में इन्हें उज्जैन जाना पड़ा, यूनानी (ग्रीक) विद्वानों से इनका और भी अधिक सम्पर्क बढ़ा, यद्यपि पाटलिपुत्र में ही उन लोगों से इनका सम्पर्क स्थापित हो चुका था। कारण, महान् साम्राज्य की राजधानी होने के कारण पाटलिपुत्र में उस समय यूनानी लोग यहाँ काफी संख्या में थे। यह बात वराहमिहिर के निम्नांकित श्लोक से स्पष्ट हो जाती है :

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्ब्रह्मविद्द्विजा:॥

उपर्युक्त बातों से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि आर्यभट और वराहमिहिर दोनों एक ही नगर (पाटलिपुत्र) के थे। बाद में वराहमिहिर उज्जैन चले गये, जिसका प्रमुख कारण जीविकोपार्जन रहा होगा; क्योंकि आर्यभट की ख्याति से उनके जीविकोपार्जन में अवश्य बाधा पहुँची होगी।

आर्यभट के समय में ज्योतिष के और भी विद्वान् थे और उनके द्वारा लिखित कुछ ग्रन्थ भी उपलब्ध थे। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उनके समकालीन वराहमिहिर की 'पंचसिद्धान्तिका' पुस्तक है, जिसमें पाँच सिद्धान्तों की विवेचना है, जो दूसरे विद्वानों के थे।

---

१. बृहत्संहिता, १, पृ० ७९, श्लोक १४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ये सारग्रन्थ उस समय उपलब्ध थे, पर ऐसा लगता है कि इनमें आर्यभट की तनिक भी आस्था नहीं थी। फलस्वरूप, अपने 'आर्यभटीय' में उन्होंने उनकी चर्चा तक नहीं की है। वह 'ब्रह्मसिद्धान्त' का आदर करते थे, किन्तु समय की गति के साथ उसमें भी कुछ दोष आ गये थे, जिनका मार्जन आवश्यक था। अतः, उन्होंने 'आर्यभटीय' ग्रन्थ लिखा, जो बहुत छोटा होने पर भी ज्योतिष-शास्त्र का तत्त्वभूत सार माना जाता है। कठिन विषयों को इस तरह सूत्ररूप में कहा गया है कि सबके लिए यह बोधगम्य नहीं है। विना उपपत्ति के ज्ञान के सूत्रों का अर्थ कठिन है।

ब्रह्मगुप्त के अनुसार, श्रीषेण (४५० शक=सन् ५२८ ई०) तथा विष्णुचन्द्र (४५० शक=सन् ५२८ ई०) ने आर्यभट के ग्रन्थों से ग्रह-स्पष्टीकरण में मन्दोच्च, पात और परिधि की जानकारी प्राप्त की। स्वयं छिद्रान्वेषणपटु होने पर भी ब्रह्मगुप्त को भी अन्त में आर्यभट का आश्रय लेना पड़ा।

इस प्रकार, अपने समकालीन तथा परवर्त्ती ज्योतिषियों पर आर्यभट के सिद्धान्तों का प्रचुर प्रभाव पड़ा। आर्यभटोक्त ग्रहगति को लल्ल (५६० शक=सन् ६३८ ई०) ने बीजसंस्कार दिया। शक १०१४ (सन् १०९२ ई०) में लिखे गये करण-ग्रन्थ 'करण-प्रकाश' आर्यभटोक्त भगणों के अनुसार ग्रहगति, स्थिति तथा लल्लोक्त बीजसंस्कार पर आधृत है। ठीक इसी प्रकार दामोदर का करण-ग्रन्थ (शक १३३९=सन् १४१७ ई०) है। ग्रहलाघव में गुरु, मंगल और राहु—ये ग्रह 'करणप्रकाश' से लिये गये हैं और इस देश में ग्रहलाघव की प्रधानता कई राज्यों में पाई जाती है।

दक्षिण भारत में आर्यभटीय की तीन हस्तलिखित प्रतियाँ मलयमय-भाषा में लिपिबद्ध मिली थीं। जैसा कि हम जानते हैं, सौरमान पंचांग का प्रयोग तमिलनाडु तथा केरल-राज्यों में होता है, जो आर्यपक्ष (आर्यभटीय) से सहमत है। किन्तु, बंगाल में आर्यसिद्धान्त प्रचलित नहीं है और सम्भवतः इसी आधार पर दीक्षित महोदय ने कुसुमपुर को दक्षिण भारत में खोजने का संकेत किया था, जिसकी विशद चर्चा पिछले पृष्ठों में की जा चुकी है।

जितने भी प्राचीन ज्योतिष-ग्रन्थ हैं—चाहे वह वराहमिहिर की 'पंचसिद्धान्तिका' हो या ब्रह्मगुप्त का 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त', या लल्ल का 'लल्लसिद्धान्त', अथवा श्रीपति भट्ट का 'सिद्धान्तशेखर' अथवा भास्कराचार्य का 'सिद्धान्तशेखर', सब पर आर्यभट के सिद्धान्तों का प्रभाव है। अपने ही समय में आर्यभट इतने विख्यात हो गये थे कि उन्होंने अपने ज्ञान को 'अतिपूजित' (अभ्यर्चितं ज्ञानम्) कहा। एक श्लोक में तो उन्हें 'कलियुग का साक्षात् सूर्यावतार' कहा गया है। वह भूगोल के परम वेत्ता और आचार्य थे। उनके शिष्य भास्कर प्रथम (शक ४३४=सन् ५१२ ई०) ने 'लघुभास्करीय' नामक पुस्तक में उनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है: 'ज्योतिषविज्ञान को स्पष्ट करनेवालों में आर्यभट सर्वोत्कृष्ट हैं, जिनका यश समुद्र की सीमा को पार कर विदेशों में भी व्याप्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो गया है।'[१] स्पष्ट है कि भास्कर प्रथम के समय में, अर्थात् छठी सदी के प्रारम्भ में आर्यभट का यश पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ था।

यों तो, प्राचीन काल में भारत में धर्मशास्त्र, दर्शन आदि का विशेष रूप से आदर था, फिर भी ज्योतिष-शास्त्र का सम्मान किसी शास्त्र से कम नहीं था। 'ज्योतिष-वेदांग' में लगध मुनि ने कहा है कि 'जैसे मयूर के मस्तक पर शिखा शोभती है और नागों के मस्तक पर मणियाँ, उसी प्रकार वेदांगशास्त्रों में ज्योतिष सभी शास्त्रों के माथे पर टीका (विन्दी) की भाँति है।'[२]

ज्योतिष-शास्त्र के तीन प्रमुख अंग हैं : १. गणित-सिद्धान्त; २. संहिता, जिसमें प्राकृतिक घटनाओं पर विचार किया गया है और ३. फलित, जिसे 'जातक' भी कहते हैं। किन्तु संहिता तथा फलित—दोनों गणित-सिद्धान्त पर ही निर्भर करते हैं, इसलिए प्रधानता इन्हीं की है। यों तो, ज्योतिषियों के बीच यह परम्परा-सी रही है कि जो जिस अंग के विशेषज्ञ होते हैं, उसी को प्रधानता देते हैं, किन्तु वास्तविकता तो यही है कि विना गणित में दक्षता प्राप्त किये ज्योतिष का ज्ञान अधूरा ही रह जाता है। भास्कराचार्य ने भी अपने 'सिद्धान्तशिरोमणि' में यही वात कही है। वराहमिहिर तीनों अंगों (त्रिस्कन्ध ज्योतिष) के जानकार थे और आर्यभट गणितीय सिद्धान्त के उद्भट विद्वान् थे। उनके वाद ब्रह्मगुप्त, लल्ल, श्रीधराचार्य आदि इसी सिद्धान्त-विभाग के विशेषज्ञ हुए। अतः, ज्योतिष-विज्ञान के लिए यह स्वर्णयुग था।

किन्तु, सभी शाखाओं में पीछे चलकर फलित ज्योतिष का सर्वाधिक प्रचार हुआ। कारण, जनसाधारण के दैनन्दिन जीवन से इसका सम्वन्ध था। इसकी लोकप्रियता बढ़ाने में वराहमिहिर का सबसे वड़ा हाथ था। स्वर्गीय महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी ने यह ठीक ही कहा है कि फलित-शाखा का अधिक प्रचार होने के कारण सिद्धान्त-ज्योतिष इस देश में दव-सा गया, यों भास्कराचार्य, कमलाकरभट्ट, नारायण, गणेश दैवज्ञ आदि विद्वान् परवर्त्ती काल में अपवादस्वरूप ही माने जा सकते हैं। फलित का अधिकारी महत्त्व होने के कारण अधिकांश ज्योतिषी उससे अर्थोपार्जन करने लगे, जब कि गणित-सिद्धान्त का उपयोग केवल ज्ञानार्जन के लिए ही था। यह कहना कठिन है कि आर्यभट ने नलकादि यन्त्रों से वेध करके ग्रहों का मान निकाला होगा, किन्तु जिस ढंग से

१. काले महति देशे वा स्फुटार्थं यस्य दर्शनम्।
जयत्यार्यभटः सोऽब्धिप्रान्तप्रोल्लङ्घ्य सद्यशः॥
नालमार्यभटादन्ये ज्योतिषां गतिवित्तये।
तत्र भ्रमन्ति तेऽज्ञानबहुलध्वान्तसागरम्॥
—लघुभास्करीयम्, पृ० १७, श्लोक २-३।

२. यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्ध्नि संस्थितम्॥—ज्योतिषवेदांग, प्रारम्भ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन्होंने 'आर्यभटीय' में ग्रह-उपग्रह आदि की चर्चा की है, उससे विद्वानों का अनुमान है कि उन्होंने अवश्य ही नन्कादि यन्त्रों से ग्रहों की स्फुटता निकाली होगी। उन्नीसवीं सदी में उड़ीसा में चन्द्रशेखर सामन्त नामक एक विद्वान् ज्योतिषी ने इसी प्रकार वेध करके अपने 'सिद्धान्तदर्पण' ग्रन्थ की रचना की।

आर्यभट अपने जीवनकाल में ही अतिशय यशस्वी हो चुके थे और उस समय तथा बाद में भी उनके कुछ ऐसे शिष्य हुए, जिन्होंने अपने ग्रन्थों में उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। किन्तु, बाद में उनका सुयश इस प्रकार का नहीं रहा, कारण घोर अन्धविश्वास के उस युग में विद्वानों और आम लोगों के लिए यह विश्वास करना कठिन था कि पृथ्वी चलती है, साथ ही ज्योतिष-शास्त्र में दो ही प्रसिद्ध मत हैं—ब्राह्म और सौर। 'ब्रह्मसिद्धान्त' के आधार पर प्रतिपादित मत ब्राह्ममत कहलाया और 'सूर्यसिद्धान्त' पर आधृत सौरमत। यह सही है कि आर्यभट ने भी अपने ग्रन्थ को ब्रह्मसिद्धान्त-सम्मत कहा है, किन्तु उन्होंने जो अभूतपूर्व सिद्धान्त लोगों के समक्ष रखा, वह बिलकुल उनका अपना था, जिसका ब्रह्मसिद्धान्त से कोई मतलब नहीं था। यही कारण है कि यह 'आर्यभटीय' अथवा आर्यभट-सिद्धान्त कहलाया। तात्पर्य यह कि आर्यमत मुख्य हो गया और ब्राह्ममत गौण और यह युगान्तरकारी मत 'आर्यमत' के नाम से विख्यात हुआ। दूसरी ओर ब्रह्मगुप्त के 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' ग्रन्थ से ब्राह्ममत का विशेष प्रचार-प्रसार हुआ और उसकी लोकप्रियता यहाँतक बढ़ी कि ब्रह्मगुप्त गणक-समूहों में चूडामणि कहलाये।[1] भास्कराचार्य के 'सिद्धान्तशिरोमणि' के आधार पर मुनीश्वर ने १७वीं शताब्दी में मुगल-सम्राट् शाहजहाँ के समय 'सिद्धान्तसार्वभौम' लिखा, जिसमें ब्राह्ममत का प्रतिपादन किया गया। इधर 'मकरन्दसारिणी' के माध्यम से सूर्यसिद्धान्त पर्याप्त लोकप्रिय हुआ, फलस्वरूप आज भी समस्त उत्तर भारत में मकरन्दीय पंचांग चलता है।

किन्तु, उत्तर भारत में आर्यभट की लोकप्रियता भले ही कम हो गई हो, दक्षिण भारत में, और विशेषकर माध्व-सम्प्रदाय के लोगों के बीच वह अत्यन्त आदृत एवं लोकप्रिय हैं। चाहे किसी भी दृष्टि से देखें, यह तो मानना ही पड़ेगा कि ज्योतिष-शास्त्र के अन्य आचार्यों की तरह आर्यभट लकीर के फकीर नहीं थे। उनकी ओजस्विनी प्रतिभा ने उन्हें परम्परागत मार्ग पर अधिक दिनों तक नहीं चलने दिया और उन्होंने एक स्वतन्त्र मार्ग का निर्माण किया, जो पुरानी मान्यताओं में डूबे उस युग के लोगों के लिए विप्लवकारी था, और इसीलिए विस्मयकारी और अमान्य भी। उदाहरणार्थ, अन्य आचार्य ब्रह्मा का एक दिन एक हजार महायुग का मानते हैं—सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग मिलाकर एक महायुग होता है। इसके विपरीत, आर्यभट १००८ महायुग का ब्रह्मा का एक दिन मानते हैं। अन्य आचार्य ऐसा मानते हैं कि कलियुग से दुगुना द्वापर, तिगुना त्रेता तथा चौगुना सत्ययुग होता है। आर्यभट चारों युगों की अवधि बराबर मानते हैं।

---

१. आर्यभटीय : पं० बलदेव मिश्र, पूर्ववत्, पृ० १५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्य आचार्य ७१ महायुगों का एक मन्वन्तर मानते हैं, आर्यभट ७२ महायुगों का। अन्य आचार्य दो मन्वन्तरों के बीच एक-एक सन्धिकाल सत्ययुग-प्रमाण मानते हैं, आर्यभट ऐसा नहीं मानते। ये सारी बातें उनके स्वतन्त्र विचारों की द्योतक हैं।

इन स्वतन्त्र विचारों के लिए ब्रह्मगुप्त ने जहाँ आर्यभट की आलोचना की है, वहीं वटेश्वर तथा अन्य आचार्यों ने आर्यभट के मतों का समर्थन करते हुए ब्रह्मगुप्त की तीव्र भर्त्सना की है। जिस मत से दृग्गणितैक्य हो, वही मत प्रत्यक्ष शास्त्र ज्योतिष में मान्य होता है और इस सिद्धान्त से आर्यभट ने जो कुछ कहा है, वह सत्य है। यों, कोई पूर्वाग्रहवश आलोचना करे, तो वात ही दूसरी है। कुछ भी हो, आधुनिक युग के वैज्ञानिकों ने आर्यभट की इस महान् देन को स्वीकार किया है और उनकी लोकप्रियता अब फिर इतनी बढ़ चुकी है कि भारतीय वैज्ञानिकों ने हाल में ही अन्तरिक्ष में जो उपग्रह छोड़ा है, उसका नाम 'आर्यभट' ही रखा है।

आर्यभट, कोपर्निकस और गैलीलियो :

पाँचवीं सदी में, आर्यभट ने पृथ्वीभ्रमण-सम्वन्धी जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया था, वही सिद्धान्त लगभग एक हजार वर्ष वाद जव यूरोप के दो वैज्ञानिकों ने लोगों के समक्ष रखा, तव वहाँ तहलका मच गया। आर्यभट ने पृथ्वी के चलने की वात तो कही, लेकिन पृथ्वी सूर्य के चारों ओर प्रदक्षिणा करती है, इसे उन्होंने स्पष्ट रूप से नहीं कहा। सृष्टि के प्रारम्भ से ही जनसाधारण से वैज्ञानिकों तथा ज्योतिर्विदों तक का ऐसा विश्वास था कि पृथ्वी स्थिर है और सारा ब्रह्माण्ड इसकी प्रदक्षिणा करता है। अतः, यह कहकर कि पृथ्वी चलती है, आर्यभट ने सम्भवतः यह सोचा होगा कि इस सिद्धान्त से सूर्य का अचल होना स्वतः सिद्ध हो जाता है और इसके कहने की कोई आवश्यकता नहीं।

ईसा से करीव डेढ़ सौ वर्ष वाद मिस्र के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक टॉलेमी ने कुछ इसी तरह की गणनाएँ की थीं और ग्रह-नक्षत्र की भावी स्थिति के सम्वन्ध में कुछ संकेत दिये थे, जो बहुत हद तक सच निकले। पर, चूँकि उसने पृथ्वी को ही केन्द्र मानकर अपनी गणनाएँ की थीं, इसलिए कुछ वातें स्वयं उसकी भी समझ में नहीं आईं। जैसे, ये नक्षत्र कभी-कभी अपने मार्ग से हटकर क्यों चलने लगते हैं?[1]

टॉलेमी से भी लगभग ४०० वर्ष पहले (ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी) ग्रीस के एक ज्योतिषी एरिस्टार्कस ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि सूर्य ही ब्रह्माण्ड का केन्द्र है। किन्तु, उस समय के लोगों के लिए उसकी यह वात इतनी बेतुकी थी और

---

१. नक्षत्र के लिए ग्रीक-भाषा में 'प्लेनेट' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका मूल अर्थ है—'आवारा', यानी अपने रास्ते से हटकर चलनेवाला (फिलिप के द्वारा लिखित पुस्तक 'जायण्ट्स ऑव सायन्स' : कोपर्निकस)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विचार इतना असाधारण कि उस महान् ज्योतिषी की बात अनसुनी कर दी गई, उसकी एकदम उपेक्षा कर दी गई।

लगभग अट्ठारह सौ वर्षों बाद (सन् १५४० ई० के करीब) पोलैण्ड के एक ज्योतिर्विद् निकोलस कोपर्निकस ने यह स्पष्ट अनुभव किया कि ग्रह-नक्षत्रों की जटिल गतिविधियों की व्याख्या बड़ी आसानी से की जा सकती है, यदि सूर्य को अचल बिन्दु मानकर यह स्वीकार कर लिया जाय कि पृथ्वी तथा नक्षत्र उसकी परिक्रमा करते हैं। कोपर्निकस एक महान् ज्योतिर्विद् होने के अतिरिक्त गणितज्ञ, वैज्ञानिक, चिकित्सक, पादरी और राजनीतिज्ञ भी था। किन्तु उसके सिद्धान्त को स्वीकार करने में दुनिया को और डेढ़ सौ वर्ष लग गये, कारण यह कल्पना हमारे ऐन्द्रिय ज्ञान एवं परम्परागत मान्यता और विश्वास के विरुद्ध थी।

कोपर्निकस का जन्म १९ फरवरी, १४७३ ई० में, पौलैण्ड के तौरून नामक शहर में हुआ था। तैंतीस वर्ष की उम्र में अपनी शिक्षा-दीक्षा समाप्त करने के बाद वह अपने अनुसन्धान में लगा। शुरू-शुरू में ग्रह-गणना तथा नक्षत्र-मण्डल के अध्ययन में कोपर्निकस ने भी प्राचीन ग्रीक तथा अरबी-गणनाओं को ही यथावत् स्वीकार कर लिया, किन्तु उसके मन में यह सन्देह बना हुआ था कि उस जमाने से इस जमाने तक पहुँचते-पहुँचते ब्रह्माण्ड की स्थिति में कुछ-न-कुछ परिवर्त्तन अवश्य आ गये होंगे। आर्यभट की ही भाँति उसके पास भी कोई सूक्ष्म यन्त्र नहीं थे, जिनके द्वारा सही-सही गणना की जाय और पुरानी गणनाओं की सत्यता की जाँच हो सके। आज विश्व में एक महान् वैज्ञानिक के रूप में उसकी जो ख्याति है, वह उसके साधनों एवं गणनाओं के कारण नहीं, अपितु गणित तथा दर्शन के आधार पर, तथा सूक्ष्म चिन्तन के द्वारा ब्रह्माण्ड की एक नूतन व्यवस्था परिकल्पित कर सकने के कारण ही। इस तरह आर्यभट और कोपर्निकस के चिन्तन की दिशा एक ही थी और दोनों की विचारधाराओं में बहुत कुछ समानता भी थी।

विश्व के वैज्ञानिकों में अब भी बहुत मतभेद था कि **कोपर्निकस** का सिद्धान्त क्या सचमुच सत्य है। पृथ्वी चलती है, सूर्य नहीं—यह कहाँतक सच है? **गैलीलियो** ने अपने अनुसन्धान तथा प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि सूर्य नहीं, पृथ्वी चलती है। उसके निष्कर्ष सत्य थे, जिन्हें उसने परीक्षणों द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाणित भी कर दिया! आगे चलकर पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण की खोज में न्यूटन को इस सिद्धान्त से काफी बल मिला।

गैलीलियो का जन्म सन् १५६४ ई० में इटली के फ्लॉरेन्स नगर में हुआ था। **शेक्सपियर** और **गैलीलियो** विश्व की दो विभूतियाँ—एक ही वर्ष संसार में आईं, किन्तु दोनों के भाग्य एक-से नहीं थे। यह सही है कि दोनों अपनी कृतियों के बल पर विश्वविख्यात हो गये, किन्तु जहाँ शेक्सपियर को अपनी अमर कृतियों के लिए कोई यातना नहीं सहनी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पड़ी, वहीं गैलीलियो को सत्य की खोज के 'अपराध' में सन् १५९१ ई० में विश्वविद्यालय की प्रोफेसरी से बरखास्त कर दिया गया। उसका कसूर यह था कि उसने अपने साथियों के दिल में सदियों से चले आ रहे एरिस्टॉटल के सिद्धान्तों के प्रति सन्देह उत्पन्न कर दिया था। दुनिया एरिस्टॉटल की भूल से चिपकी रहना चाहती थी। खैर, फिर उसे पेदुआ-विश्वविद्यालय में गणित का प्रोफेसर बनाया गया और विज्ञान-जगत् में समीक्षण तथा परीक्षण में उसकी कीर्त्ति इतनी फैल चुकी थी कि यूरोप-भर के विद्यार्थी पढ़ने के लिए पेदुआ ही आने लगे। यहीं वह ज्योतिर्विज्ञान की ओर आकृष्ट हुआ और तब उसने यह सिद्ध कर दिया कि 'नक्षत्र तारों की तरह स्वतः प्रकाशयुक्त नहीं हैं, बल्कि चाँद की तरह उधार की रोशनी से बाहर-ही-बाहर चमकते हैं। 'और, ये तारे ज्वालाओं के पुंज हैं और इधर-उधर मोटी-मोटी किरणें हर वक्त बिखेरते रहते हैं—जिन्हें हमारी दुर्बल आँखें टिमटिम के रूप में ग्रहण करती हैं।'

इस प्रकार, उसने सौरमण्डल के सम्बन्ध में और भी परीक्षण किये तथा बहुत-सी नई बातें संसार के समक्ष रखीं। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में उसने 'डायलॉग्ज़ ऑन टू न्यू सायन्सेज' ('Dialogues on two New Sciences' : 'दो नई विज्ञान-पद्धतियों पर संवाद') सन् १९३६ ई० में प्रकाशित किया, जिसमें गति, गति में अभिवृद्धि तथा गुरुत्वाकर्षण-सम्बन्धी उसकी सम्पूर्ण अन्वेषणाएँ सार-रूप में प्रस्तुत हैं। इससे चार वर्ष पहले उसने 'ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में दो मुख्य व्यवस्था-सूत्र' ('ए डायलॉग ऑन द टू सिस्टम्स ऑव द वर्ल्ड' : 'A Dialogue on the two Systems of the World') नामक एक पुस्तक प्रकाशित कराई थी, जिसका ध्येय कोपर्निकस के सिद्धान्त का विशदीकरण था। गैलीलियो ने इसे और भी पल्लवित किया और विश्व की व्यवस्था में, सूर्य को केन्द्रबिन्दु पर प्रतिष्ठत करते हुए, पृथ्वी तथा अन्यान्य नक्षत्रों को उसके इर्द-गिर्द परिक्रमा करते दिखाया। ठीक यही बात लगभग एक हजार वर्ष पहले आर्यभट ने भी कही थी। किन्तु, जहाँ आर्यभट को अपने समय में अभूतपूर्व सम्मान मिला, वहीं गैलीलियो को तरह-तरह की शारीरिक एवं मानसिक यातनाएँ। दुर्भाग्य अब भी उसका पीछा कर ही रहा था और यही दोनों ग्रन्थ जीवन के अन्तिम दिनों में उसकी विपत्तियों के कारण बन गये। इटली की सरकार तथा सदियों से अन्धविश्वास में पली यूरोप की जनता इस कटु सत्य को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी। और, उस विश्वविख्यात गणितज्ञ, वैज्ञानिक, ज्योतिर्विद् तथा परीक्षणात्मक प्रतिभा के अद्भुत धनी को कचहरी में जाकर यह शपथ लेनी पड़ी : 'मैं, गैलीलियो गैलिलाई—स्वर्गीय विंसेंजिओ का पुत्र, फ्लॉरेन्स का निवासी, उम्र सत्तर साल, कचहरी में हाजिर होकर अपने असत्य सिद्धान्त का त्याग करता हूँ कि सूर्य ब्रह्माण्ड की गतिविधि का केन्द्र है (और स्वयं स्थिर है)। मैं कसम खाकर कहता हूँ कि इस सिद्धान्त को अब मैं कभी नहीं मानूँगा, इसका समर्थन और प्रतिपादन भी अब मैं किसी रूप में नहीं करूँगा।' और, उसकी मजबूरी से लाभ उठानेवाले कानूनदानों ने अपने ओहदे के बल पर उसके खिलाफ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फैसला सुना दिया—'ब्रह्माण्ड का केन्द्र पृथ्वी है, सूर्य नहीं।' आत्मप्रवंचना का इससे बढ़कर शायद ही कहीं दूसरा दृष्टान्त मिले। मगर, सत्य को कानून के बल पर कबतक दबाया जा सकता है। जो प्रतिष्ठा विश्व के इतिहास में गैलीलियो को प्राप्त हुई, वह शायद किसी भी वैज्ञानिक को आजतक नहीं मिल सकी। मौत की धमकी ने भले ही उसे मजबूर कर दिया हो, किन्तु उसके द्वारा प्रतिष्ठापित सत्य को आज भी दुनिया याद करती है। (द्र० पूर्ववत्, पृ० ५०—५६)

गैलीलियो की मृत्यु सन् १६४२ ई० में हुई। वह एक दिग्गज था, जिसके कन्धों पर कभी न्यूटन खडा हुआ था—आगे कुछ देख सकने को!

इस प्रकार, आर्यभट, कोपर्निकस तथा गैलीलियो—ये तीनों महान् वैज्ञानिक तथा गणितज्ञ दुनिया के इतिहास में अपनी अमर कृतियों के लिए चिरस्मरणीय रहेंगे। भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा छोड़ा गया आर्यभट-उपग्रह जो आकाश में परिक्रमा कर रहा है, उसी महान् वैज्ञानिक की याद दिलाता है, जिसकी जयन्ती हम प्रत्येक वर्ष १३ अप्रैल को मनाते हैं।

सन्दर्भ-संकेत :

१. 'आर्यभटीय' : सं० पण्डित बलदेव मिश्र।

१. वराहमिहिर-कृत ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त।

३. लल्लसिद्धान्त (म० म० पं० सुधाकर द्विवेदी द्वारा सम्पादित)।

४. गणकतरंगिणी।

५. मकरन्दसारिणी।

६. सिद्धान्तशिरोमणि।

७. Giants of Science by Philip Cane.

८. सूर्यसिद्धान्त।

९. A Bibliography of Sanskrit Works on Astronomy and Mathematics, New Delhi, 1966.

१०. भारतीय ज्योतिष : ले० एस्० बी० दीक्षित।

११. Brhatsamhita with the Commentary of Bhattotpala, ed. by M. M. S. Dwivedi, Varanasi.

१२. Parmeshwar Jha : 'Aryabhata I' : Some of his Lost Works, in Journal, BRS, 1972 (Pt. L. K. Jha Fe. Vol.)

△ प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
प्राचीन भारतीय एवं एशियाई विभाग
मगध-विश्वविद्यालय, बोधगया (बिहार)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारतीय दर्शन में भक्ति का स्वरूप एवं विकास

डॉ० पद्माकर सिंह

भारतीय दार्शनिक चिन्तन एवं संस्कृति के अविरल प्रवाह को प्राक्-ऐतिहासिक काल से आधुनिक युग तक उसकी समग्रता में देखने से हमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राचीन काल की अनेक सांस्कृतिक एवं धार्मिक मान्यताएँ, जो हमें उत्तराधिकार के रूप में मिली हैं, वर्षों के चिन्तन, मनन और परीक्षण के ही प्रतिफल हैं तथा वे भारतीय दार्शनिक चिन्तन के रूप में गृहीत हुई हैं। भारतीय जीवन में भक्तिवाद की प्रतिष्ठा के पीछे भी इसी प्रकार के सहस्रों वर्ष पहले का इतिहास है। यह सही है कि भारतीय दर्शन में भक्ति-भावना का उद्भव और विकास कब और कैसे हुआ, इसपर पाश्चात्य एवं भारतीय विचारकों ने गम्भीरता से विचार किया है, जिनमें वेबर, ग्रियर्सन, मैकडोनल, विण्टरनित्ज़, डॉ० राधाकृष्णन् आदि के नाम प्रमुख हैं। विद्वानों का यह मत है कि भारतीय भक्ति की चिन्तन-धारा विदेशी नहीं, यहीं की धरती से उद्भूत हुई है और यह उतनी ही प्राचीन है, जितना आस्तिकवाद। वस्तुतः, भारतीय भक्ति की स्रोतस्विनी यहाँ के लोकमानस को अनन्त काल से आप्लावित करती हुई, भक्तों के कण्ठों से आर्द्र वाक्य के रूप में, विभिन्न भाषाओं और साहित्यों में प्रवाहित होती रही है।

अब प्रश्न उठता है, भक्ति क्या है? इसका विकास कैसे हुआ है? व्युत्पत्ति की दृष्टि से भक्ति शब्द 'भज्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—सेवा करना; और 'भक्ति' शब्द का अर्थ है—भगवान् की सेवा। यह परमात्मा के प्रति प्रेमपूर्ण अनुराग है। वस्तुतः, भक्ति मानव-स्वभाव की जन्मजात प्रवृत्ति है। आदिकाल से मानव की शक्तियाँ अनन्त इच्छाओं के संघर्ष तथा उसकी पूर्ति के लिए उचित-अनुचित साधनों को जुटाने में ही लगी रही है, जिस कारण उसे क्लेशों तथा दुःखों को झेलना पड़ा है। यही कारण है कि मानव की निम्नगा प्रवृत्ति (बाहर भागने की प्रवृत्ति) काम के विशुद्ध स्वरूप को कलुषित कर देती है एवं वह दुःख के अनन्त सागर में डूब जाता है, फलतः उसकी आत्मा अतृप्त रह जाती है। वह ऊँची-से-ऊँची स्थिति में पहुँचकर भी सन्तुष्ट नहीं होता। वह तृप्ति चाहता है—आत्मतृप्ति, आत्मसन्तुष्टि। यह उसे बाहर की वस्तुओं में नहीं मिलती। जब मानव बाहर से हटकर अन्दर की ओर चलता है, तब उसे तृप्ति मिलती है। यही कारण है कि एक संगीतकार को संगीत-कला में तृप्ति मिलती है, तो एक दार्शनिक को अपने मनन, चिन्तन और निदिध्यासन में। पूर्ण तृप्ति तो भक्ति की पराकाष्ठा में अन्तिम सत्य के साथ एकीकरण में है। यही मानवीय वृत्ति का मूलाधार है, जो मानव-जीवन को 'भक्ति'-भावना के लिए उत्प्रेरित करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मानवीय वृत्ति का ईश्वर के साथ योग के साधन-स्वरूप ज्ञान, कर्म और भक्ति को माना गया है। परन्तु, साधक जैसे ज्ञान की ओर अग्रसर होता है, उसकी संवेदन-शक्ति उसे भावनाओं के भँवरजाल में आवद्ध कर लेती है और वह अपनी आन्तरिक तृप्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। यदि साधक भावनाओं के जाल से निकल भी आया, तो कर्म जीवन-यापन की सामग्री जुटाने के लिए आकृष्ट कर लेता है। त्याग और वैराग्य की ओर प्रयाण करते ही सांसारिक वैभव एवं विलास, माया और मोह उसे अपनी ओर खींचते हैं। इस प्रकार, प्रत्येक साधन-पथ उसे प्रत्यूहों से आवेष्टित प्रतीत होने लगता है। वह सुख-दुःख के द्वन्द्वों में पड़ा हुआ कभी प्रकृति के प्रपंच (कर्मव्यापार-जाल) की ओर देखता है, तो कभी चिति-सम्बन्धी ज्ञान-गुत्थियों की ओर। द्वन्द्व के इस घेरे से निकलना उसके लिए दुष्कर हो जाता है। तव वह पथ से विचलित होकर अपनी असहाय अवस्था से क्षुब्ध हो उठता है और उसके भीतर से चीत्कार निकलता है और किसी सहायक की ओर वह करुण नेत्रों से देखने लगता है। इस आन्तरिक ज्वाला से वचने के लिए प्रच्छाय, जलीय, शीतल स्थान चाहिए। दुःख से त्राण पाने के लिए आनन्द-निकेतन चाहिए। आनन्द का यह निकेतन ईश्वर है; सच्चिदानन्द, परमात्मा है। मानव को सारा संसार धोखा दे सकता है, परन्तु ईश्वर धोखा नहीं दे सकता। अतः, जीवन के द्वन्द्वों के सिन्धु से सन्तरण पाने का अवलम्वन, साधनों का साधन, आश्रयों का आश्रय एकमात्र आनन्दस्वरूप ईश्वर है। इसी के साथ एकीकरण हो जाना आनन्द है। यही भक्तिमार्ग है। अतः, 'हृदयत्व के माध्यम से भगवान् का सान्निध्य और उपलब्धि करने का प्रयास ही भक्ति है।' दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि सामान्य अनुराग, समादर और श्रद्धा से आगे बढ़कर क्रमशः जीवन में जो अपार निष्ठा सन्निविष्ट होती है, वही भक्ति का नाम ग्रहण करके एक महती जीवन-साधना वन जाती है। यह साधना स्वभावतः अत्यन्त गहन और ऐकान्तिक होती है; परन्तु उसका लोकपक्ष भी उतना ही व्यापक और उदात्त होता है। 'भक्ति परमात्मा के प्रति उत्कट प्रेम है।' नारद ने भक्ति की व्याख्या करते हुए 'भक्तिसूत्र'[1] में कहा है : 'भक्ति चित्त की वह वृत्ति है, जिसकी प्राप्ति होने पर व्यक्ति के सारे कर्म, सारे आचार ईश्वर को अर्पित हो जाते हैं और तदनुरूप ही साधक, साध्य अथवा ध्येय की विस्मृति होते ही अत्यन्त व्याकुल और अधीर हो उठता है। परमात्मा के प्रति सर्वोच्च अभिलाषा जगती है। यह अभिलाषा अप्रयोज्य है।' शाण्डिल्य ने भी भक्ति की व्याख्या करते हुए कहा है : 'सा परानुरक्तिरीश्वरे।' (शाण्डिल्यभक्तिसूत्र, २) अर्थात्, इनके अनुसार, 'परा भक्ति ईश्वर में अनुरक्ति या अनुराग है।' अनुरक्ति का 'अनु' इस बात का द्योतक है कि वह

१. नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता।
तद्विस्मरणात् परमव्याकुलता चेति ॥—नारदभक्तिसूत्र, १९।

श्रीआद्याप्रसाद मिश्र द्वारा लिखित—'नारद और शाण्डिल्य की भक्ति-पद्धति' से उद्धृत। (हिन्दुस्तानी-एकेडेमी की त्रैमासिक पत्रिका, अक्टूबर-दिसम्बर, सन् १९४६ ई०)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राग, प्रेमभाव, ध्येय के महत्त्व, अनन्य, नित्यत्व आदि जान लेने के बाद ही उत्पन्न होता है और जैसे-जैसे ध्येय के महत्त्व आदि गुण आत्मदर्शन का रूप धारण करते जाते हैं, वैसे-वैसे वह रागात्मक वृत्ति या प्रेमभाव भी प्रगाढ और अद्वितीय होता जाता है; यहाँतक कि परिपाक की चरम सीमा पर पराभक्ति का नामान्तर हो जाता है। इस प्रकार भक्तियोग में भक्त अपनी चित्तवृत्तियों को नाम-रूप के सहारे 'भाव' में, फिर भाव के सहारे परमात्मा में लीन कर देता है।[1] भक्ति में कर्म (जडत्व-सम्बन्धी गति) एवं ज्ञान (बुद्धि या चिन्तन) का पर्यवसान हो जाता है। भक्ति भगवान् की करुणा के विश्वासपूर्ण आत्मसात्करण के प्रति आत्मसमर्पण है। यह योगसूत्र का ईश्वर-प्रणिधान है, जो भोज के मतानुसार, एक ऐसा प्रेम है, जिसमें इन्द्रियों के आनन्द इत्यादि परिणामों की अपेक्षा किये विना सब कार्य गुरुओं के गुरु (परमात्मन्) को समर्पित कर दिये जाते हैं। यह एक ऐसा तीव्र अनुभव है, जो सब लालसाओं को समाप्त कर देता है और हृदय को परमात्मा के प्रेम से भर देता है। 'नारदभक्तिसूत्र' में कहा गया है :

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्द्धमानम्।
अविच्छिन्नं सूक्ष्मतरम् अनुभवरूपम् ।।५४।।

भागवतपुराण में भक्ति के नौ भेद वताये गये हैं।[2] यदि कोषों की दृष्टि से देखा जाय, तो अन्नमय कोष प्राणमय कोष में परिणत हो जाता है। समस्त अन्न प्राण का भोजन है। प्राणमय कोष (गति का मुख्य केन्द्र) मनोमय कोष में लीन हो जाता है। मन ही राग-द्वेष का केन्द्र है और समस्त कर्म का स्रोत है। मनोमय कोष (मन, गति, विज्ञानमय) बुद्धि में लीन हो जाता है। बुद्धि या विज्ञान 'सत्' का अंश और ज्ञान का क्षेत्र है। यह बुद्धि या ज्ञानवृत्ति जिसके सहारे आत्मतत्त्व में लीन होगी, वह 'भाव' ही है, जिसे श्रद्धा या भक्ति-भावना का नाम दिया गया है। अतः, विज्ञानमय कोष आनन्दमय कोष में लीन हो जाता है। यही भक्ति की अन्तिम अवस्था है; क्योंकि आनन्दमय कोष का सम्बन्ध इसी हेतु ईश्वर की उपासना के साथ है। इसलिए, भक्त सर्वात्मना अपने-आपको प्रभु को समर्पित कर देता है। यह समर्पण, शरणागति, प्रपन्नावस्था ही भक्ति का सर्वस्व है। भक्ति की इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए ज्ञान और कर्म दोनों ही साधन बनते हैं और दोनों ही अपने क्रमानुसार भक्तिधारा में लीन होते हैं, जो भगवान् की प्राप्ति का अन्तिम साधन है। भक्ति भगवान् का आत्मा से साक्षात् सघन सम्बन्ध स्थापित कराती है, अतएव भक्ति कर्म और ज्ञान दोनों से ऊपर है।

अब प्रश्न उठता है, भक्ति का आधार क्या है? इसके अंग कौन-कौन हैं? जिसके कारण साधक अपने व्यक्तित्व (शरीर, हृदय और बुद्धि) को उस परमतत्त्व की प्राप्ति में

---

१. श्रीआद्याप्रसाद मिश्र : 'नारद और शाण्डिल्य की भक्तिपद्धति।'
२. श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।—भाग० पु०, ७।५।२३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लगा देता है। भक्तिकाण्ड इसके उत्तर में भक्त को कर्त्तव्य-पालन करते हुए ईश्वरोन्मुख बने रहने पर बल देता है। श्रद्धा के साथ कर्त्तव्यों का पालन करते हुए ईश्वर में लीन हो जाना, सर्वस्व न्योछावर कर देना ही भक्ति का अंग है। गीता कहती है : श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।' (गीता १७।३) वस्तुतः, भक्त यह मानता है कि पुरुष श्रद्धा का बना हुआ है। वह जिसमें श्रद्धा रखता है, वैसा ही बन जाता है। अतः, श्रद्धा सत्य में, शुभ में, सुन्दर में रहनी चाहिए; अनृत, अशुभ और असुन्दर में नहीं। भक्ति का मूल आधार श्रद्धा ही है। भक्ति का दूसरा अंग भोगों का त्याग है। मानव सीमित जीवन में सभी भोगों को नहीं भोग सकता। फिर, भोग इन्द्रियों के तेज को नष्ट कर देता है और जीवन में तृष्णा उत्पन्न करता है। अतः, भक्ति के लिए भोगों को त्याग कर ही भक्त अपनी अन्तर्मुखी शक्ति को जगा सकता है। लेकिन, त्याग के लिए तप और संयम की आवश्यकता मानी गई है। गीता में कहा गया है : 'तप तथा व्रत के द्वारा मैं भोगों के प्रभाव को दूर करता हूँ और ब्रह्मचर्य तथा अन्य संयमों के द्वारा उनपर अपना स्वामित्व स्थापित करता हूँ।' अतः त्याग भक्ति का दूसरा अंग है।

भक्ति का तीसरा अंग 'यज्ञ का अनुष्ठान' माना गया है; क्योंकि भोगों की अनिवार्यता से प्राकृतिक दैविक भोग्य सामग्री का क्षय होता है, इसलिए उसकी पूर्त्ति के निमित्त भोग्योत्पादक साधन 'यज्ञ' की आवश्यकता होती है, याज्ञिक अनुष्ठान करना पड़ता है, जिसके फलस्वरूप प्राणियों का विकास होता है।

भक्ति का चौथा अंग जीवन का सामाजिक वृत्ति से सम्बन्ध है, जो उसे लोकभक्ति के लिए प्रेरित करता है। बन्धुत्व, विश्वबन्धुत्व या 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना इसी रूप में कही गई है। मैत्री, सहानुभूति, सम्मान, नम्रता और करुणा ही जीवन को उच्च बनाता है। अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह भक्त के सामाजिक जीवन के प्राण माने गये हैं। यही कारण है कि भारतीय चिन्तनधारा में सभी विचारकों ने इसे स्वीकार किया है।

भक्ति का पंचम और अन्तिम अंग ब्रह्मज्ञान, ईश्वरपरायणता और आत्मनियन्त्रण है, जिसमें भक्त इन्द्रियों को नियन्त्रित कर, मन को बुद्धि और विवेक के नियन्त्रण में रख, यम-नियम का पालन करते हुए अपने स्वतत्त्व को परमतत्त्व में लीन कर देता है। ईश्वर में अपने को आत्मसात् करना भक्ति-भावना का मूल आधार या प्रमुख विशेषता है। भक्त जब उपर्युक्त मार्गों पर चलकर समरस पावन प्रभु के सान्निध्य में पहुँचता है, तब शान्त हो जाता है। उसके सारे क्लेश दूर हो जाते हैं। आनन्दधाम में पहुँचकर वह सानन्द बन जाता है। भक्ति के इस मार्ग पर चलकर मानव जडता से निकलकर प्राणमय, प्राणवत्ता से हटकर मनोमय, मननशीलता से हटकर विज्ञानमय और भक्ति द्वारा विज्ञान से भी ऊपर आनन्दमय बनता है। महर्षि अरविन्द ने इसे अमृत अवस्था की संज्ञा दी है, जिसमें मानव उस परम शान्त, महान् अनन्त सत्ता में अपने को मग्न कर देता है और पूर्ण ज्ञान, आत्मसत्ता की सर्वांगपूर्णता की प्राप्ति करता है। शास्त्रों में इसी भक्ति को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विभिन्न नामों से पुकारा गया है। नारद इसे फलरूपा, प्रमाणरूपा, शक्तिरूपा और परमानन्दरूपा कहते हैं, तो शाण्डिल्य ऐश्वर्यपरा और आत्मैकपरा मानते हैं। महात्मा टालस्टॉय ने भी भक्ति के इस रूप को जीवन का अमूल्य क्षण कहा है : "प्रार्थना के क्षणों में मैं चाहता था, उस सर्वव्यापक प्रभु के भीतर अपने को खो दूँ। मैं प्रभु से अपने पापों की क्षमा कर देने की प्रार्थना करता था, पर वह मैंने कभी नहीं की; क्योंकि मुझे अनुभव हुआ कि प्रार्थना के इन वरद मंगल क्षणों को देकर प्रभु ने मेरे सारे पाप क्षमा कर दिये हैं।"[१]

परन्तु भक्ति के द्वारा जीवन में आत्मिक और नैसर्गिक पक्षों में परिपूर्णता कैसे आई और भक्तिमार्ग ऐकान्तिक होते हुए भी लोकदर्शन कैसे बन गया, इसकी पूर्ण व्याख्या तभी हो सकती है, जब भारतीय दर्शन में वर्णित 'भक्ति के विकास' पर ध्यान दिया जाय। वर्त्तमान युग की ऐकान्तिक प्रवृत्तियों को भक्ति नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वे न तो किसी जीवनव्यापी साधना से सम्बद्ध होती हैं और न तो उनका लोकपक्ष ही वैसा प्रशस्त होता है, जहाँ वह 'स्व' से ऊपर उठकर 'भूमा' बन सके। इसलिए, भक्ति के लोकपक्ष की व्याख्या के लिए वैदिक युग से वैष्णव-परम्परा तक भक्ति के विकास पर ध्यान देना अत्यावश्यक हो जाता है।

भक्ति का विकास : वैदिक युग :

'भक्ति' का प्रारम्भिक रूप वैदिक काल से ही दिखाई पड़ता है। वैदिक काल में प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों की प्रतीक-रूप में पूजा की जाती थी। ये प्रतीक इन्द्र, वरुण, मरुत् आदि देवरूपों की सर्वशक्तिमान् सृष्टि के आदिकारण परब्रह्म परमात्मा के ही स्वरूप समझे जाते थे। वैदिक ऋषियों ने 'ब्रह्मनिरूपण' जिस गम्भीर चिन्तन के रूप में किया है, वैसा अन्यत्न नहीं है। इसी ब्रह्म की उपासना प्रतीक देवों के रूप में करना उनका कर्त्तव्य था। वैदिक ऋषि पूर्ण उल्लास से अपने रक्षक, मित्न एवं सहृदय देवताओं के प्रति प्रेमभरे मन्त्रों का उच्चारण करते थे। डॉ० वेणीप्रसाद ने इसका चित्नण करते हुए कहा है कि "ऋग्वेद में मनुष्य और देवताओं का जैसा सम्बन्ध है, वैसा आगे के हिन्दू-साहित्य में नहीं है। यहाँ देवता मनुष्य-जीवन से दूर नहीं है। आर्यों का विश्वास है कि देवता उनकी सहायता करते हैं, उनके शत्रुओं का नाश करते हैं। वे मनुष्य से प्रेम चाहते हैं। भारतीय भक्ति-सम्प्रदाय का आदिस्रोत ऋग्वेद है। यहाँ कुछ मन्त्रों में मानव और देवता के बीच गाढ़े प्रेम और मित्नता की कल्पना की गई है।"[२]

१. Life of Tolstoy : "I desired, I longed to be absorbed in the all-enfolding Being. I prayed Him to forgive my sines, but, no, I did not ask that, because I felt that by giving me there blassed moments, He had pardoned me."

२. डॉ० वेणीप्रसाद : 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता', पृ० ४२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दाण्डेकर ने भी अपने शोध के आधार पर यह सिद्ध किया है कि वैदिक प्रार्थनाओं में प्रेम-भाव भरा-पूरा है।[1] कुछ ऋचाओं में विष्णु के प्रति ऐसी सान्निध्य-लालसा की प्रेमपूर्ण भावना प्रकट की गई है, जो वैष्णव-भक्ति का मूल स्रोत माना जाता है। जैसे :

१. विष्णुलोक के प्रति कामना :

तदस्य प्रियमभि पाथो अस्याम्।

(मैं विष्णु के प्रिय धाम को प्राप्त करूँ।)

२. विष्णु की कृपा के लिए प्रार्थना :

'महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे।'

(अर्थात्, हे विष्णु, आप महान् हैं, आपकी सुमति का हम भजन करते हैं।)

इतना ही नहीं, भक्तिग्रन्थों में जो श्रवण, कीर्त्तन आदि नवधा भक्ति का विधान है, उनका भी उल्लेख वैदिक ग्रन्थ में है।[2] यथा :

'सेदुश्रवोभिर्यूज्य चिदभ्यसत्।' (ऋग्०, १।१५६।२)

वह चेतन जीव ध्यानमय परमात्मा को उसके यशःश्रवण द्वारा प्राप्त करने का अभ्यास करे।

'विष्णो नु कं वीर्याणि प्रवोचम्।' (ऋग्०, १।१५४।१)

मैं विष्णु भगवान् की लीलाओं का प्रवचन, कीर्त्तन करता हूँ।

'प्रविष्णवे धूपमतु मन्य।' (ऋग्०, १।१५४।४)।

भगवान् विष्णु का, दिव्यशक्ति से ओतप्रोत एवं आनन्द देनेवाले का मैं स्मरण करता हूँ।

अतः, वेदों में उपास्य के प्रति जिस स्वजन-भावना तथा परिचय-सामीप्य की आवश्यकता हुई है, उसी की पूर्त्ति के लिए 'अवतारवाद' के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया। वस्तुतः, सगुण भक्तिमार्ग के लिए 'अवतार' को मानना आवश्यक है; लेकिन वेद में उसका स्पष्ट चित्रण देखने को नहीं मिलता। परन्तु, वेद के कुछ सूक्तों में जहाँ 'विष्णु' का वर्णन प्रस्तुत किया गया है, अवतार के कुछ तत्त्व निहित हैं।' विष्णु को ऐच्छिक रूप धारण करनेवाला, तीन पग में विश्व को नापनेवाला, तथा मानवहितकारी, सम्पन्न एवं रक्षक के रूप में वर्णन किया गया है।

इतना ही नहीं, भक्ति के 'सिद्धान्त-पक्ष' का भी निरूपण वेद में हुआ है।[3] 'ब्रह्म' को विभिन्न पक्षों में निरूपित कर, ब्रह्म-जीव-सम्बन्ध, जगत्-ब्रह्म-सम्बन्ध और जगत्-जीव-

१. कृष्णदत्त भारद्वाज : 'वैष्णव धर्म का विकास और विस्तार।'
—'कल्याण', वर्ष १६, अंक ४ से उद्धृत।

२. कृष्णदत्त भारद्वाज : 'वेद में नवधा भक्ति।'
—'कल्याण', वर्ष २०, अंक ५ से उद्धृत।

३. डॉ० रामचन्द्र शुक्ल : 'भक्ति का विकास।'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्बन्ध स्थापित किया गया तथा भक्ति के 'उपासना-पक्ष' को लेकर लोकरक्षक स्वरूप, जन-मनोरंजनकारी व्यक्तित्व के रूप में विष्णु को माना गया है। ब्रह्म की लीलाएँ, नवधा भक्ति आदि भक्तों के लिए जो आवश्यक माना गया है, उसकी भी चर्चा वेदों में की गई है। यह सही है कि 'भक्ति का शास्त्रीय निरूपण' वेदों में वैसा नहीं हुआ है, और न प्रतिष्ठा ही, जैसा पुराणशास्त्रों, उपनिषदों एवं वैष्णव-सम्प्रदाय में पाया जाता है। लेकिन, इस सत्य को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि वेद जो समस्त भारतीय दार्शनिक चिन्तन एवं धर्म का स्रोत है, उसमें भक्ति-भावना के आदि 'मूलतत्त्व' उपस्थित हैं। डॉ० वेणीप्रसाद के शब्दों में कह सकते हैं कि 'हिन्दू भक्ति-सम्प्रदाय का आदिस्रोत ऋग्वेद है।'

उपनिषद्-काल में भक्ति का विकास :

उपनिषद्-काल भारतीय दर्शन में 'ज्ञान-प्रधान' काल माना जाता है, जहाँ ब्रह्म, जीव एवं जगत् के सम्बन्धों-स्वरूपों को बौद्धिक पृष्ठभूमि पर रखकर उनकी व्याख्या की गई है। इस काल में भक्ति को ज्ञान से अलग नहीं, वरन् ज्ञानमिश्रित भक्ति द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार किया गया है। अतः, उपनिषद्-काल के ज्ञानकाण्ड में दो मार्ग हैं, एक वह, जो हृदय-पक्ष (भाव) को बिलकुल छोड़कर बुद्धि या विशुद्ध ज्ञान को लेकर चलता है, दूसरा हृदयपक्ष-समन्वित ज्ञान को लेकर। लोकमान्य तिलक ने भी 'गीतारहस्य' में लिखा है कि 'वेद तथा उपनिषद्-कालीन ज्ञानमार्ग से आगे चलकर योग और भक्ति ये दो शाखाएँ निर्मित हुई।'[1]

अतः, यह कहा जा सकता है कि उपनिषद्-काल में भी विशुद्ध ज्ञानमार्ग पर चलना सहज एवं कल्याणकारी न समझा गया, फलस्वरूप भक्तिमार्ग को भी अपनाना पड़ा। ईश्वर ने मानव को जितनी शक्तियाँ दी हैं, उनमें शरीर और बुद्धि के अलावा हृदय भी है। हृदय की अवहेलना करना जीवन को शुष्क बनाना है। वस्तुतः, मनुष्य-जीवन का उद्देश्य केवल ज्ञानप्राप्ति नहीं है। वह स्वतः शुष्क एवं आनन्दहीन है। उत्कृष्ट प्रेम, एवं भक्तिज्ञान के द्वारा आनन्द की प्राप्ति 'बृहदारण्यक' में बताये गये 'मधुविज्ञान' का सार है। 'तैत्तिरीय उपनिषद्' विज्ञानमयी आत्मा से आनन्दमयी आत्मा को अधिक महत्त्व देता है।[2] भक्ति के इस आनन्दमय स्वरूप की छान्दोग्योपनिषद् में वर्णन करते हुए ब्रह्म को मनोमय प्राणशरीर, प्रकाशस्वरूप, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा, सर्वकर्मा, सर्वगन्ध, सर्वरस-सम्पूर्ण, जगत् को सब ओर से व्याप्त करनेवाला, वाक्-रहित एवं सम्भ्रम-शून्य माना गया है :

मनोमयः प्राणशरीराभारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा।
सर्वकर्मा सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तो अवाक्यनादरः ॥[3]

---

१. तिलक : गीतारहस्य, पृ० ५३७।

२. शाण्डिल्य का भक्तिसिद्धान्त : बी० एम्० बरुआ (2nd oriental Conference, Calcutta, P. 413)

३. छान्दोग्योपनिषद्, ३।१४।२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार, औपनिषदिक भक्तिमार्ग ब्रह्म के उभयात्मक स्वरूप को ग्रहण कर चलता है, जहाँ व्यक्त एवं सगुण की नित्यता प्रवाह-रूप मानी गई है और अव्यक्त एवं निर्गुण को स्थिर। जहाँतक ब्रह्म हमारे मन और इन्द्रियों के अनुभव में आ सकते हैं, वहाँतक हम उसे सगुण और व्यक्त कहते हैं तथा हृदय को सगुण और व्यक्त रूप में अनुरक्त रखते हैं, परन्तु सम्यक्-दर्शन के लिए, ब्रह्मज्ञान के लिए उसके निर्गुण और अव्यक्त सत्ता को भी मान लेना पड़ता है।

तिलक भी 'गीतारहस्य' में इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि "परब्रह्म का ज्ञान होने के लिए ब्रह्म-चिन्तन करना आवश्यक है। इस हेतु परब्रह्म का सगुण प्रतीक प्रथम आँखों के सामने रखना चाहिए, ऐसा छान्दोग्य आदि प्राचीन उपनिषदों ने कहा है। उपासना-मार्ग में सगुण प्रतीक के स्थान पर क्रमशः परमेश्वर का व्यक्त मानवरूपधारी प्रतीक-ग्रहण ही भक्तिमार्ग का आरम्भ है।....ब्रह्मचिन्तनार्थ प्रथम यज्ञ के अंगों या ओंकार की तथा आगे चलकर रुद्र, विष्णु इत्यादि वैदिक देवताओं अथवा आकाशादि सगुण व्यक्त ब्रह्म प्रतीक की उपासना से प्रारम्भ होकर अन्त में इसी हेतु ब्रह्म-प्राप्त्यर्थ राम, कृष्ण, नृसिंह आदि की भक्ति प्रारम्भ हुई है।"

भक्ति की इस अवस्था में उपासकों को उपास्य के अत्यधिक सान्निध्य में रखने के लिए कुछ विधानों की भी चर्चा है, जो आवश्यक माना गया है। ब्राह्मणग्रन्थों में— पंचरात्र-यज्ञ, पुरुषसूक्त में नरमेध-यज्ञ एवं बलि के स्थान पर 'घृताहुति'-कर्मों को माना गया है। अतः, इससे भी सिद्ध होता है कि उपासना के लिए केवल बौद्धिक पक्ष ही आवश्यक नहीं, बल्कि हृदय की विभिन्न वृत्तियों को भी आवश्यक माना गया है। ये वृत्तियाँ हैं परोपकार, क्षमा, प्रेम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि। इस प्रकार, भक्ति की जो मूलधारा ऋग्वैदिक काल में थी, उसका विकास उपनिषद् एवं गीता में हुआ तथा उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा वैष्णव-दर्शन में देखने को मिलती है।

भगवद्गीता में भक्ति का विकास :

भगवद्गीता भारतीय दार्शनिक चिन्तनधारा का मूल माना जाता है, जिसमें ज्ञान, कर्म, योग एवं भक्ति का सूक्ष्म वर्णन किया गया है। भारतीय जनजीवन को गीता के भक्तिमार्ग ने बहुत ही प्रभावित किया है। गीता के अनुसार, भक्ति व्यक्त (सगुण) परमात्मा के साथ विश्वास और प्रेम का सम्बन्ध है। अव्यक्त की पूजा या उपासना साधारण प्राणियों के लिए कठिन है, इसलिए गीता में ब्रह्म को सजीव भावुक रूप देकर वर्णन किया गया है। क्योंकि, व्यक्त परमात्मा की पूजा या उपासना दुर्बल एवं निम्न, अशिक्षित और अज्ञान भी कर सकता है। अतः, भक्ति को 'लोकभक्ति' का रूप देने के लिए ही गीता में सगुण ईश्वर को स्वीकार किया गया है। यही कारण है कि इसमें सनातन भगवान् को दार्शनिक अनुमान के परमात्मा के रूप में उतना नहीं देखा गया है, जितना कि उसे करुणामय भगवान् के रूप में, जिसे हृदय और आत्मा चाहते हैं और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खोजते हैं, जो व्यक्तिक विश्वास और प्रेम, श्रद्धा तथा निष्ठापूर्ण आत्मसमर्पण की भावना को जगाता है। कहा गया है :

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥[1]

गीता की भक्ति-भावना बौद्धिक प्रेम नहीं है, जो कि अपेक्षाकृत अधिक चिन्तनात्मक और मननात्मक होता है। यह सही है कि भक्ति के लिए ज्ञान की अवहेलना नहीं की गई है, उसी पर टिकी है, परन्तु स्वयं ज्ञान नहीं है। भक्ति में ज्ञान के विना भी आत्मशान्ति मिलती है। यही कारण है कि गोपियों की भक्ति के आगे भगवान् को भी झुकना पड़ा था। भक्ति का विशेष गुण प्रेम और उपासना, दया और कोमलता, श्रद्धा और विनय, आज्ञाकारिता, सेवापरायणता एवं करुणा है। इसी के आधार पर भक्त अपने को परमात्मा के आगे आत्मसमर्पण कर देता है और निर्णय उसी पर छोड़ देता है कि वह हमारे लिए जो ठीक समझे, करे। परन्तु, गीता में कहा गया है कि यह आत्मसमर्पण संकल्पहीन या प्रयत्नहीन नहीं होता। इस अवस्था में भी वह प्रयत्नशील रहता है। कर्त्तव्य का भान एवं लोक-कल्याण की अनुभूति उसे रहती ही है। गीता में कहा गया है कि जो लोग अपने कर्त्तव्य को छोड़ बैठते हैं और केवल 'कृष्ण-कृष्ण' कहकर भगवान् का नाम जपते हैं, वे वस्तुतः भगवान् के शत्रु और पापी हैं; क्योंकि धर्म की रक्षा के लिए तो स्वयं भगवान् ने भी जन्म लिया था।[2]

अतः, गीता में भक्ति, परमात्मा के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण है। इसके लिए ज्ञान नहीं भक्तिपूर्ण हृदय चाहिए। ईश्वर की उपासना या भक्ति या प्रेम जीवन की कठोरताओं से बच भागने का मार्ग नहीं है, अपितु यह तो सेवा के लिए आत्मार्पण है, जिसमें व्यक्ति 'स्व' से ऊपर उठकर समष्टि (भूमा) में पहुँच जाता है। यही लोकभक्ति है। इस प्रकार, गीता के भक्तियोग को हम निम्नलिखित रूप में बाँट सकते हैं :

१. प्रेमस्वरूपा भक्ति।
२. मर्यादा-भक्ति।

प्रेमस्वरूपा भक्ति : प्रेमस्वरूपा भक्ति में साधक कर्मों का अवलम्बन न लेकर आराध्य की प्रेमयुक्त क्रीडाओं में वृत्तियों को रमाता हुआ गन्तव्य स्थल तक पहुँचता है। जैसे : गोपियाँ।

मर्यादा-भक्ति : मर्यादा-भक्ति में आराध्य की उपासना के साथ वैदिक शास्त्रीय (कर्मकाण्ड) आदि का विधान रहता है। इसमें ज्ञान एवं बुद्धि के आधार को बनाये हुए

---

१. भगवद्गीता : डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० ६६।
२. विष्णुपुराण : स्वधर्मकर्मविमुखाः कृष्णकृष्णेतिवादिनः।
ते हरेर्द्वेषिणो मूढाः धर्मार्थं जन्म यद्धरेः ॥
एवं गीता में अध्याय ६, श्लोक २६ से ३० तक।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भक्त भगवान् की उपासना करता है। गीता में भावास्था की दृष्टि से भी भक्ति को बाँटा जा सकता है। यह भी दो प्रकार की है :

१. पराभक्ति।

२. साधनस्वरूपा भक्ति।

पराभक्ति : यह शुद्ध प्रेमावस्था है, जहाँ भक्त भगवान् के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण कर देता है।

साधनस्वरूपा भक्ति : यह पराभक्ति की अवस्था तक पहुँचने के पूर्व की नवधा भक्ति या मर्यादा-भक्ति का पोषक है। भक्त नवधा भक्ति के विभिन्न विधानों (श्रद्धा, अन्तःकरण की शुद्धि, भजन, कीर्त्तन, नामस्मरण, पादसेवन आदि) का आश्रय लेकर भगवान् में लीन हो जाता है।

वैष्णव-दर्शन में भक्ति का विकास :

वैष्णव भक्ति-भावना का मूल भगवद्भक्ति है, जिसमें भक्त भगवान् में हेतुरहित, निष्काम, एकनिष्ठतायुक्त, अनवरत आत्मसमर्पण करता है। इस सम्प्रदाय में आलवार एवं आचार्य हुए हैं। आलवारों की चिन्तनधारा दक्षिण में उदित हुई और वहीं तक सीमित रह गई। हालाँकि, आलवार भक्त प्रभु के जिस प्रेम का वर्णन करते हैं, वह क्षणिक प्रेम नहीं है। वह प्रेम सतत, नित्य रूप में रहनेवाला है। प्रेम की सान्द्र या उत्कृष्ट अवस्था अनिर्वचनीय मानी गई है। इस अवस्था में भक्त मूक एवं नीरव वन जाता है। इसलिए, प्रेम की तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं—स्मरण, मूर्च्छा और अनन्त विराम। अतः, आलवारों की भक्ति में दास्य, वात्सल्य तथा कान्ता, इन तीन भावों की प्रधानता है। आलवार, भक्तों की सेवा को भगवान् की सेवा मानते हैं और परमेश्वर को वासुदेव, नारायण, भगवान्, राम, कृष्ण आदि नामों से पुकारते हैं। प्रेम और श्रद्धा के द्वारा इनकी उपासना करना भक्ति का रूप है।

परन्तु, आचार्य, आलवारों से भिन्न है। ये ज्ञानी एवं कर्मकाण्डी वैदिक माने जाते हैं। आचार्य-सम्प्रदाय में सर्वप्रथम संगनाथमुनि आते हैं, इसके बाद यामुनाचार्य। इन्हीं के शिष्य रामानुजाचार्य हुए। इसके बाद मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य एवं वल्लभाचार्य हुए। रामानुजाचार्य का दर्शन 'विशिष्टाद्वैत' है। विशिष्टाद्वैत में भक्ति को अन्तिम सोपान माना गया है, जिसपर चढ़कर भक्त प्रभु (ब्रह्म-सगुण रूप) को प्राप्त करता है। भगवान् की कृपा ही उनकी प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। प्रपत्ति या शरणागति इस कृपा के लिए साधन है। भक्ति के पूर्व ज्ञान और उससे भी पूर्व कर्म की स्थिति है। कर्म द्वारा हृदय शुद्ध होता है और वह ज्ञानयोग की ओर ले जाता है, जहाँ उसे प्रकृति का अनुभव होता है और वह जीव अपने को प्रकृति से भिन्न समझने लगता है। जीव का यह आत्मज्ञान, अष्टांगयोग की साधना करता है। जीव की इस अवस्था (आत्मज्ञान) को मोक्ष माना गया है। मोक्ष भी भक्ति-भावना पर आधृत है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माधवाचार्य भी वैष्णव-सम्प्रदाय के हैं; लेकिन इनका सम्प्रदाय 'ब्रह्म-सम्प्रदाय' माना जाता है। ये ब्रह्म के रूप में विष्णु को भगवान् मानते हैं और मुक्ति का मार्ग भी भक्ति को ही मानते हैं। इनका मत है कि मुक्ति का सर्वोच्च साधन अमला भक्ति है। यह भक्ति अनन्य और अहैतुकी होती है। हरि ही ईश्वर हैं, विष्णु हैं। ये ही उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बन्धन एवं मोक्ष के कारण हैं। अतः, इनकी भक्ति से ही मुक्ति मिल सकती है।

निम्बार्क के अनुसार, ईश्वर जगत् के निमित्तोपादानकारण हैं। ईश्वर के रूप में 'कृष्ण' ही परमब्रह्म हैं। जीव प्रपत्ति द्वारा भगवान् के अनुग्रह का अधिकारी होता है। भागवत्कृपा से ही आत्मा के अन्दर भक्ति-भाव का आविर्भाव होता है, जिससे भगवान् के साक्षात्कार की सिद्धि होती है। कहा गया है : 'कृष्ण एव परो देवः तं ध्यायेत्, तं रसेत्, तं भजेत्, तं यजेत् ओं तत्सदिति।' निम्बार्क ने 'राधा' की उपासना पर बल दिया है। राधा-कृष्ण ही आराध्य देव-देवी हैं। इनकी भक्ति-भावना पाँच प्रकार की है : शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और उज्ज्वल। अतः, निम्बार्क की भक्ति-भावना का आधार भी 'श्रीमद्भागवत' है।

वल्लभाचार्य ने निम्बार्क के मत का विकास अपने 'शुद्धाद्वैत' के सिद्धान्त में किया है। मायारहित जीव की शुद्ध अवस्था एवं परब्रह्म एक ही सत्ता है। आत्माएँ ईश्वर के ही अंश हैं, जैसे चिनगारियाँ अग्नि के अंश हैं। जीव को मुक्ति पाने के लिए आवश्यक ज्ञान की प्राप्ति विना भगवान् की कृपा के नहीं हो सकती। मुक्ति पाने का सर्वश्रेष्ठ साधन भगवान् की भक्ति है। भक्ति प्रेममिश्रित धर्म है। अतः, प्रत्येक वैष्णव विचारकों ने मुक्ति या मोक्ष के लिए भक्ति को ही श्रेष्ठ साधन माना है तथा इसके लिए परब्रह्म या ईश्वर को व्यक्तिक (सगुण) माना है एवं सर्वोच्च की वास्तविकता के लिए आत्मिक अनुभव (अन्तर्दृष्टि) को ज्ञान का साधन माना है।

उपर्युक्त विवेचनाओं के आधार पर हम निष्कर्ष-रूप में कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन में 'भक्ति-भावना' मूलरूप से निहित है। प्रत्येक विचारक ने भक्ति को मोक्ष या मुक्ति के लिए प्रमुख साधन के रूप में स्वीकार किया है। वस्तुतः, भक्ति भाव तथा संवेग-प्रधान मानसिक स्थिति है, जिसमें भक्त अपने को परब्रह्म पर सम्पूर्णतया न्योछावर कर देता है। भक्ति मानव में श्रद्धा, करुणा, सहानुभूति बन्धुत्व एवं सेवाभाव को जाग्रत् करती है। अतः, वैदिक युग से वैष्णवकाल तक भारतीय दार्शनिक चिन्तन में भक्ति की जो धारा प्रवाहित होती रही है, वह ज्ञान एवं तर्क की दृष्टि से अलग-अलग भले ही दिखाई पड़े, परन्तु ये एक दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं।

●●

△ अध्यक्ष, दर्शन-विभाग
अनुग्रह मेमोरियल कॉलेज, गया (बिहार)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वसुदेवहिण्डी : प्राकृत-बृहत्कथा

△ डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

आचार्य संघदासगणिवाचक (अनुमानतः ईसा की तृतीय-चतुर्थ शती) भारतवर्ष के प्रमुख कूटस्थ गद्यकारों में अन्यतम हैं। उनकी उल्लेखनीय प्राकृतभाषा-निबद्ध गद्यात्मक कथाकृति 'वसुदेवहिण्डी' की उपलब्धि इसलिए महत्त्वपूर्ण घटना है कि इससे महाकवि गुणाढ्य की पैशाची-भाषा में परिगुम्फित 'बृहत्कथा' ('वड्ढकहा') के अज्ञात मूल स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। गवेषणापटु विद्वानों में अग्रगण्य डॉ० ऑल्सडोर्फ (कील-युनिवर्सिटी, प० जर्मनी के प्राच्यविद्या-विभागाध्यक्ष : अब स्वर्गीय) ने इसे 'बृहत्कथा' का प्राकृत जैन रूपान्तर कहा है। यह सुनिश्चित है कि संघदासगणी ने जो 'वसुदेवहिण्डी' लिखी, उसमें उन्होंने गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' को ही आधार बनाया है। सुदुर्लभ कथाशक्ति से सम्पन्न 'इतिवृत्तकथक' होने के नाते उन्होंने अपनी साहित्यिक प्रतिभा, कला-चेतना और सारस्वत श्रम के विनियोग द्वारा 'वसुदेवहिण्डी' के शिल्प-सन्धान और अन्तरंग प्रतिमान में अनेक परिवर्त्तन किये, जिससे कि 'बृहत्कथा' से उद्गत मूल स्रोत को, नई दिशा की ओर मुड़कर, स्वतन्त्र कथाधारा से रूप में संज्ञित होने का अवसर मिला।

कथामर्मज्ञ संघदासगणी ने 'बृहत्कथा' की मौलिकता में 'वसुदेवहिण्डी' की मौलिकता को विसर्जित नहीं होने दिया है। उन्होंने 'बृहत्कथा' की लौकिक कामकथा को धर्मकथा और लोककथा में परिवर्त्तित तो किया ही, कथानायक को बदलकर सबसे अधिक महत्त्व का परिवर्त्तन किया। पैशाची-निबद्ध गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' में वत्सराज उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त कथानायक हैं, किन्तु, संघदासगणी ने अन्धकवृष्णि-वंश के प्रसिद्ध महापुरुष वसुदेव को कथानायक की गरिमा प्रदान की है।

गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' केवल 'वसुदेवहिण्डी' का ही मूलाधार नहीं है; अपितु 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' (बुधस्वामी), 'कथासरित्सागर' (सोमदेवभट्ट) और 'बृहत्कथामंजरी' (क्षेमेन्द्र) का भी आधारोपजीव्य है। इसीलिए, सोमदेव ने 'कथासरित्सागर' की अन्तिम प्रशस्ति में 'बृहत्कथा' को विविध कथाओं के अमृत का आगार कहा है। बुधस्वामी (अनुमानतः ईसा की द्वितीय-तृतीय शती) नेपाल के निवासी थे, इसलिए उनके द्वारा रचित 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' को 'बृहत्कथा' की नेपाली-वाचना कहा गया है। इसी प्रकार, क्षेमेन्द्र और सोमदेवभट्ट कश्मीर के राजा अनन्त वर्मा (ईसा की १०-११वीं शती) के राजदरबार के रत्न थे। राजा अनन्त की रानी सूर्यमती कथा सुनने में बहुत रस लेती थीं। अतएव, रानी के लिए क्षेमेन्द्र और सोमदेव ने 'बृहत्कथा' के आधार पर क्रमशः 'बृहत्कथा-मंजरी' तथा 'कथासरित्सागर' की रचना की। इसलिए, उक्त दोनों कथा-ग्रन्थों को 'बृहत्कथा'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की कश्मीरी वाचना कहा गया है। और फिर, 'वसुदेवहिण्डी' 'बृहत्कथा' के उक्त नेपाली नव्योद्भावन—'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' का परवर्त्ती या कनीय समकालीन तथा उक्त कश्मीरी नव्योद्भावनों—'बृहत्कथामंजरी' एवं 'कथासरित्सागर' के पूर्ववर्त्ती, जैनाम्नाय पर आधृत प्राकृत-नव्योद्भावन है। सूचना है कि 'वसुदेवनारसिन्दम्' नाम से 'वसुदेवहिण्डी' के एक तमिल-रूपान्तर का भी उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार, पैशाची 'बृहत्कथा' के, तीन संस्कृत में तथा एक प्राकृत में नव्योद्भावन प्राप्त हैं। 'कथासरित्सागर' के प्रथम कथापीठ-लम्बक के प्रथम तरंग से यह सूचना मिलती है कि आन्ध्र के राजा सातवाहन ने, गुणाढ्य जिनके मन्त्री थे, देशी भाषा में अनुवर्त्तित 'बृहत्कथा' की प्रतियाँ प्रचारार्थ वितरित की थीं और उक्त चारों कथाकारों को 'बृहत्कथा' की अलग-अलग उक्त प्रतियाँ प्राप्त थीं, जिनके आधार पर उन्होंने अपनी कथाकृति का नव्योद्भावन प्रस्तुत किया। कश्मीरी वाचनाओं में तो उनके कथाकारों ने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि 'बृहत्कथा' में जो है, वही वे लिख रहे हैं। पुनः नेपाली और प्राकृत जैन वाचनाओं में कश्मीरी वाचनाओं से कथा की समान्तरता के कारण ही उनके भी 'बृहत्कथा' के आधार पर ही लिखे जाने की बात स्पष्टतया संकेतित है।

'बृहत्कथा' की उक्त संस्कृत-वाचनाएँ श्लोकों में निबद्ध हैं और उनके कथानायक उज्जयिनी के राजकुमार नरवाहनदत्त हैं; किन्तु प्राकृत-वाचना—'वसुदेवहिण्डी' प्राकृत-गद्य में परिबद्ध है, और उसमें नरवाहनदत्त के स्थान पर द्वारकापुरी के दस यादव दशार्हों में दसवें, यानी अन्तिम शलाकापुरुष, वसुदेव (कृष्ण के पिता) को चरितनायक का गौरव प्रदान किया गया है। इस प्रकार, प्रांजल प्राकृत-गद्य की भूमि पर, परिवर्त्तित कथानायक और नव्यता के साथ उपन्यस्त कथा की दृष्टि से यह कथाकृति 'मौलिक' या 'नव्योद्भावन' शब्द को सर्वथा सार्थक करती है!

'वसुदेवहिण्डी' के युगचेतनासम्पन्न कथालेखक ने सच्चे अर्थ में 'बृहत्कथा' की अविच्छिन्न परम्परा को नई दिशा देकर उसे सातिशय ऊर्जस्वल और प्राणवाहिनी धारा से ततोऽधिक गतिशील बनाया है। आचार्य संघदासगणी परम्परा के अन्धानुगामी नहीं, अपितु परम्परा और अपरम्परा के समन्वयकारी कलासाधक हैं। वह सही मानी में अनेकान्तवादी विचारक हैं। इसीलिए, उन्होंने जैनाम्नाय के प्रति न तो कभी दुराग्रहवादी प्रचारात्मक दृष्टिकोण अपनाया है, न ही जैनेतर आम्नायों की विकृतियों और विशेषताओं के उद्भावन में पक्षपात का प्रदर्शन किया है। कथा की ग्रथन-कला में, एक कथाकार के लिए जो निर्वैयक्तिकता या माध्यस्थ्य अपेक्षित होता है, संघदासगणी में वह भरपूर है और वह यथार्थतः कला की तन्मयता की मधुमती भूमिका में स्थिर साधारणीकृत भावचेतना-लोक के कलाकार हैं। लोकसंग्रह की भावना और अगाध वैदुष्य, दोनों की मणिप्रवाल-शैली के मनोहारी दर्शन उनकी युगविजयिनी कथाकृति 'वसुदेवहिण्डी' में सर्वत्र सुलभ हैं।

जैन शोधकों को यथोक्त नेपाली और कश्मीरी नव्योद्भावनों से सर्वथा विलक्षण 'बृहत्कथा' का एक विस्तृत प्राकृत-नव्योद्भावन 'वसुदेवहिण्डी' के रूप में उपलब्ध हुआ है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिसने आश्चर्यजनक ढंग से देश-देशान्तरों के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। प्राच्यविद्या के उपासक जर्मन-विद्वान् डॉ० ऑल्सडोर्फ का मन्तव्य है कि 'बृहत्कथा', निस्सन्देह, प्राचीन भारतीय साहित्य का एक रसमय और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस लुप्त ग्रन्थ ('बृहत्कथा') के वास्तविक 'प्रकार' के निर्धारण और पुनर्घटन के कार्य में 'वसुदेवहिण्डी' से पर्याप्त सहायता की उपलब्धि सम्भव है। 'वसुदेवहिण्डी' के रचयिता संघदासगणी ने कथा के शिल्प और विषयवस्तु को अपनी कल्पनाशक्ति से अतिशय विमोहक रूप प्रदान किया और उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त के अद्भुत पराक्रम को कृष्ण के पिता वसुदेव पर आरोपित करके प्राचीन कथा की परम्परा को नया आयाम दे दिया। वसुदेव के परिभ्रमण (हिण्डी=हिण्डन=परिभ्रमण या यात्रा) के वृत्तान्त से सम्बद्ध यह उच्चतर कथाकृति 'वसुदेवहिण्डी' न केवल प्राचीन जैनकथाओं में, अपितु विश्व के प्राचीन कथा-साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। गुणाढ्य से सोमदेव तक की सुदीर्घ भारतीय कथा-परम्परा के विस्तृत भौगोलिक क्षितिज पर 'वसुदेवहिण्डी' का ज्योतिर्मय भाव-भास्वर उदय नितान्त विस्मयजनक है।

जैन साहित्येतिहास के अनुसार वर्गीकृत 'प्रथमानुयोग' के साहित्य के अन्तर्गत संस्कृत-निबद्ध चरितग्रन्थों में उल्लेख्य हेमचन्द्र-कृत 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' में नेमिनाथ-चरित के अन्तर्गत वसुदेव का चरित चित्रित हुआ है। उसमें भी 'जैन बृहत्कथा' की रूप-रेखा परिलक्षित होती है। इसके अतिरिक्त, श्रीकृष्ण की प्राचीन कथाओं से सम्बद्ध जैन कथाग्रन्थों मे भी 'बृहत्कथा' का संक्षिप्त सार या नव्योद्भावन प्राप्त होता है। किन्तु, संघदासगणी-कृत 'वसुदेवहिण्डी' ने तो अपने विस्तार और विषय-वैविध्य के कारण 'जैन बृहत्कथा' की परम्परा में क्रान्तिकारी या युगान्तरकारी परिवर्त्तन उपस्थित कर दिया। जैनागम-भाष्यों में अन्यतम 'आवश्यकचूर्णि' में इस ग्रन्थ के उल्लेख से इस कृति की कथा की विपुल व्यापकता का अनुमान सहज सम्भव है। इस कथा-ग्रन्थ की संस्कृत तत्सम-प्रधान प्राचीन प्राकृत-भाषा से भी इसके रचनाकाल की प्राचीनता की सूचना मिलती है। कहना न होगा कि इस महान् कथाग्रन्थ की रुचिरता की ख्याति ई० प्रथम शती से छठीं शती तक समान भाव से अनुध्वनित होती रही। इसलिए, गुप्तकाल को ही संस्कृत-प्राकृत का स्वर्णयुग माननेवाले भारतीय और भारतीयेतर विद्वान् इस ग्रन्थ के रचनाकाल की अन्तिम मर्यादा सन् ६०० ई० के आसपास निर्धारित करते हैं।

यों, संरचना की दृष्टि से अनेक विस्मयकारी और कौतूहलवर्द्धक, बहुत हद तक रोचक और ज्ञानोन्मेषक भी, अन्तःकथाओं और अवान्तर कथाओं से संवलित किसी प्रबल पुरुषार्थी और प्रचण्ड पराक्रमी राजा या राजपुत्र की बड़ी कथा ही 'बृहत्कथा' के नाम से अभिहित हुई है। 'वसुदेवहिण्डी' की संरचना भी 'बृहत्कथा' की शैली में की गई है। भारतीयेतर देशों में 'सहस्ररजनीचरित्र' ('अरेबियन नाइट्स टेल'), 'अलिफलैला की कहानी', 'हातिमताई का किस्सा' आदि बृहत्कथाओं की परम्परा रहती आई है। आधुनिक हिन्दी में भी श्रीदेवकीनन्दन खत्री की ऐयारी या तिलिस्मवाले उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'चन्द्रकान्तासन्तति' 'बृहत्कथा' के ही हिन्दी-नव्योद्भावन हैं। भले ही, इनके चरितनायक उदयन या नरवाहनदत्त के बदले दूसरे ही क्यों न हों? 'बृहत्कथा' विराट् उपन्यास का ही नामान्तर है, जिसे गल्प की व्यापक श्रेणी में रखा जा सकता है।

जैसा कहा गया, 'वसुदेवहिण्डी' में 'बृहत्कथा' की ही परम्परा का नव्योद्भावन हुआ है। निश्चय ही, 'वसुदेवहिण्डी' गुणाढ्य-कृत 'बृहत्कथा' का प्रतिरूप नहीं है, किन्तु 'बृहत्कथा' की परम्परा में एक युगपरिवर्त्तक जैन प्राकृत-नव्योद्भावन अवश्य है, जो 'बृहत्कथा' के प्राचीनतम रूपान्तर के साथ आधाराधेय भाव से जुड़ा हुआ है। इस कथा-ग्रन्थ में 'बृहत्कथा' की वस्तु को श्रीकृष्ण की प्राचीन कथा के आधार पर गुम्फित किया गया है। ग्रथन-कौशल से ही इस कथाकाव्य में नव्यता आ गई है। जैनवाङ्मय के सुपरिचित जर्मन-अधीती श्रीयाकोबी के मतानुसार, जैनों में कृष्ण की कथा ईसवी-सन् के ३०० वर्ष पूर्व अस्तित्व में आ चुकी थी। श्रीयाकोबी मानते हैं कि ईसवी-सन् के प्रारम्भ तक जैन पुराण-कथा सम्पूर्णता की स्थिति में आ गई थी। जैनों ने जिस समय 'बृहत्कथा' को अपनी पुराण-कथा के कलेवर में सम्मिलित किया, उस समय वह ('बृहत्कथा') एक प्रसिद्ध कवि की कृति होने के अतिरिक्त, देवकथा की भव्यता से प्रभास्वर, प्राचीन युग की रचना मानी जाने लगी थी, जिसकी महत्ता पुराणों एवं महाकाव्यों की कथा के समान हो गई थी। इसीलिए, 'बृहत्कथा' के जैन प्राकृत-नव्योद्भावन से मूल 'बृहत्कथा' के रचना-काल की शतियों प्राचीनता को लक्ष्य कर डॉ० बूलर ने गुणाढ्य का समय ईसवी-सन् की पहली या दूसरी शती और पेरिस के फ्रेंच-विद्वान् प्रो० लाकोत ने तीसरी शती माना है। इस सन्दर्भ में डॉ० ऑल्सडोर्फ का यह मत कि गुणाढ्य को यदि बहुत प्राचीन समय में नहीं, तो उसे ईसवी-सन् की पहली या दूसरी शती पूर्व में मानना चाहिए, अमान्य नहीं है।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का यह कथन यथार्थ है कि गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' अपने युग में व्यासकृत 'महाभारत' के समान अपने देश के काव्य और कथा-साहित्य पर छाई हुई थी, जो आज, काल के विशाल अन्तराल में जाने कहाँ विलीन हो गई! इसलिए, उक्त कृति के उत्तरकालीन रूपान्तरों, वाचनाओं या नव्योद्भावनों से ही उसकी विषयवस्तु के सम्बन्ध में कुछ कड़ियाँ जोड़नी पड़ती हैं।

प्रो० लाकोत ने विलुप्त 'बृहत्कथा' की आयोजना का अनुमान सम्भवतः 'बृहत्कथा-श्लोकसंग्रह' के आधार पर इस प्रकार किया है: प्रास्ताविक भाग में उदयन और उसकी दो रानियों—वासवदत्ता एवं पद्मावती की सुविदित कथा थी। वासवदत्ता का पुत्र नरवाहन-दत्त जब युवा राजकुमार की अवस्था को प्राप्त हुआ, तब उसका गणिकापुत्री मदनमंचुका ('बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' में मदनमंजुका) से प्रेम हो गया। उस राजकुमार ने अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध उससे विवाह कर लिया। एक विद्याधरराजा मदनमंचुका को हर ले गया। मदनमंचुका को खोजते हुए नरवाहनदत्त ने विद्याधरलोक और मनुष्यलोक में नये-नये पराक्रम प्रदर्शित किये। दीर्घ पराक्रम के बाद मदनमंचुका से उसका मिलन हुआ। राजकुमार नरवाहनदत्त स्वयं विद्याधरचक्रवर्त्ती बना और मदनमंचुका उसकी प्रधान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३४७८६

महिषी (पटरानी) बनी। नरवाहनदत्त अपने प्रत्येक पराक्रम के बाद अन्त में एक-एक सुन्दरी से विवाह करता है। इस प्रकार, प्रत्येक पराक्रम की कथा के अन्त को गुणाढ्य ने 'लम्भ' (=लाभ) की संज्ञा दी और उसी पद्धति पर नरवाहनदत्त की कथा वेगवतीलम्भ, अजिनवतीलम्भ, प्रियदर्शनालम्भ इत्यादि सर्गों में विभक्त थी।

'लम्भ' की यही परम्परा 'वसुदेवहिण्डी' में भी मिलती है। इस कथाग्रन्थ में, जो कि अपूर्ण है, कुल अट्ठाईस लम्भ हैं, जिनमें उन्नीसवें और बीसवें लम्भों की कथा लुप्त है, साथ ही २८वें लम्भ की कथा भी अधूरी है और 'उपसंहार'-अंश अप्राप्य है। 'लम्भ' की यही परम्परा 'कथासरित्सागर' तथा 'बृहत्कथामंजरी' में भी 'लम्बक' के रूप में प्राप्त होती है। जैनपरम्परानुसार, 'वसुदेवहिण्डी' में, श्रीकृष्ण की प्राचीन कथा के अन्तर्गत श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव की कथा की आयोजना इस प्रकार हुई है :

रूपवान् एवं प्रचण्ड पराक्रमी वसुदेव ने अपने बड़े भाई से रुष्ट होकर घर छोड़ दिया और वह देश-देशान्तर—सम्पूर्ण बृहत्तर भारत का परिभ्रमण (हिण्डन) करने लगे। इसी क्रम में उन्होंने नरवाहनदत्त की भाँति विविध पराक्रम प्रदर्शित किये और विद्याधरी तथा मानवी जाति की अट्ठाईस पत्नियाँ प्राप्त कीं। अन्तिम पत्नी के रूप में उन्होंने देवकी को प्राप्त किया। इसके पूर्व 'रोहिणीलम्भ' में रोहिणी पत्नी की प्राप्ति के क्रम में, रोहिणी के पिता राजा रुधिर द्वारा आयोजित स्वयंवर में ही अकस्मात् वसुदेव का अपने बड़े भाई समुद्रविजय से मिलन हो गया। समुद्रविजय भी उस स्वयंवर में भाग लेने आये थे। समुद्रविजय ने वसुदेव को बहुत समझाया-बुझाया। उसके बाद वसुदेव अपनी सभी पत्नियों को साथ लेकर द्वारकापुरी लौट आये और वहाँ अपने कुटुम्बी जनों के साथ मिलकर पूर्ववत् रहने लगे।

मदनमंचुका का प्रसंग इस कथाग्रन्थ में छोड़ दिया गया है। सम्भवतः, कृष्ण की कथा के प्रसंग में उसकी संगति नहीं थी। 'बृहत्कथा' की मूलभूत पात्री मदनमंचुका के प्रसंग को परिवर्तित कर उसके स्थान पर गणिकापुत्री सुहिरण्या और राजकन्या सोमश्री का प्रणय-प्रसंग श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब के साथ जोड़ दिया गया है। इस प्रकार, मूलकथा ('बृहत्कथा') की वस्तु और उसकी आयोजना की कई एक अनावश्यक घटनाएँ उसमें होने से विलुप्त मूलग्रन्थ के स्वरूप के विषय में, 'बृहत्कथा' के इस प्राकृत-रूपान्तर 'वसुदेवहिण्डी' की प्राप्ति से, अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उद्भावन होता है।

कहना अनपेक्षित न होगा कि महाकवि गुणाढ्य एक साथ ही कर्मठ और अध्यवसायी, उद्भट प्रत्यालोचक, मनस्वी सत्यसन्ध, सुकुमार शैली के सुललित कवि, निर्भीक और उत्क्रान्तिकारी तथा रसवादी औपन्यासिक थे। साथ ही, उनकी 'बृहत्कथा' हृदयविमोहक और सार्थक कथाकृति है। पैशाची में परिनिष्णात गुणाढ्य ने इतनी सफलता के साथ 'रोमांस' को अपने कथाग्रन्थ में समाहित किया है कि उसके प्रभाव का परवर्त्ती कथा-साहित्य में पारम्परीण संक्रमण असहज नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणाढ्य के चरित्र-चित्रण में आदर्शवाद के पुट से हम उल्लसित हो जाते हैं, उत्साहित हो उठते हैं—निराश नहीं होते; हँसने लगते हैं, रोने नहीं लगते। भारतीय संस्कृति के व्यापक विकास पर हम गर्वित होते हैं, उसके दोषों को भी पढ़कर हमें लज्जित नहीं हो जाना पड़ता, वरन् हम यथार्थ जीवन की विभिन्न अवस्थाओं से परिचित होते हैं। यह आदर्शवाद अकेले गुणाढ्य को कथाकारों में अग्रगण्य बनाने के लिए पर्याप्त है।

'बृहत्कथा' को चाहे जिस दृष्टिकोण से देखें—मौलिकता, चरित्र-चित्रण, लोक-जीवन की यथार्थता, भाषा, वर्णन-शैली, रतिरस की उत्कृष्टता, भावसम्प्रेषण की सफलता—सभी तरह से वह अद्वितीय है और विश्व-साहित्य के योग्य कथाग्रन्थों में पांक्तेय है। 'वसुदेवहिण्डी' इसी अद्भुत कथाग्रन्थ का अपूर्व नव्योद्भावन है, जिसकी प्रभावान्विति से समग्र कथा-वाङ्मय अनुप्राणित है।

△ सम्पादक : 'परिषद्-पत्रिका'
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना-८००००४

शिष्ट और अशिष्ट

"भाष्यकार पतंजलि की दृष्टि में शिष्टों का बड़ा ऊँचा स्थान था। वास्तव में, शिष्ट ही समाज की धुरी थे। शिष्ट दो प्रकार के बनते थे—शिक्षा से और चरित्र से। शिक्षा का मूल व्याकरण-ज्ञान था, इसलिए वैयाकरण शिष्ट माने जाते थे। शिष्टि शास्त्र द्वारा ही होती है और वैयाकरण शास्त्रज्ञ होते हैं, इसलिए उन्हें शिष्ट कहना चाहिए, यह पतंजलि का विचार था। शिक्षा के अतिरिक्त, निवास और आचार भी शिष्टत्व के चिह्न थे। आर्यावर्त्त के निवासी ब्राह्मणों में जो असंग्रही, अलोलुप, जितेन्द्रिय और किसी विशेष शास्त्र में पारंगत होते थे, वे शिष्ट माने जाते थे। इनकी कही हुई बात प्रामाणिक मानी जाती थी। भाष्यकार ने अष्टाध्यायी का प्रयोजन शिष्टज्ञान माना है। अष्टाध्यायी के अध्ययन से व्यक्ति में यह योग्यता आती है कि वह शिष्टों और अशिष्टों की पहचान कर सके।"

△ पतंजलिकालीन भारत : डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपभ्रंश-साहित्य में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री

△ डॉ० राजाराम जैन

अपभ्रंश-साहित्य का अध्ययन काव्यशास्त्रीय, दार्शनिक एवं लोकचित्रण की दृष्टि से तो आवश्यक है ही, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक उपकरणों की दृष्टि से भी उसके तुलनात्मक अध्ययन की अनिवार्यता है। उसकी प्रशस्तियों एवं पुष्पिकाओं में ऐसी अनेक घटनाओं का अंकन किया गया है, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। अपभ्रंश के कवियों ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ एवं अन्त में पूर्ववर्त्ती साहित्य एवं साहित्यकारों, समकालीन राजाओं, आश्रय-दाताओं, भट्टारकों, नगरसेठों एवं राज्यमन्त्रियों के नामों एवं कार्यों के उल्लेख किये हैं, जो इतिहास-लेखकों के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ कतिपय प्रकाशित तथा अप्रकाशित अपभ्रंश-प्रशस्तियों के आधार पर उनका ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत है।

अपभ्रंश के महाकवियों ने अपनी ग्रन्थ-प्रशस्तियों में ऐसे अनेक पूर्ववर्त्ती कवियों के उल्लेख किये हैं, जिनकी रचनाएँ आज उपलब्ध नहीं हैं। कुछ ऐसे भी कवियों के उल्लेख हैं, जिनकी रचनाएँ अभी ग्रन्थागारों में ही वन्द पड़ी हैं। महाकवि स्वयम्भू एवं त्रिभुवन स्वयम्भू द्वारा उल्लिखित कवियों की विस्तृत नामावली का प्रस्तुतीकरण यहाँ सम्भव नहीं। किन्तु, उनकी पूर्ण जानकारी तथा उनकी रचनाओं को उपलब्ध कर उनके अध्ययन के विना अपभ्रंश-साहित्य का इतिहास परिपूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकता। उक्त नामावली में से ही यहाँ कुछ ऐसे कवियों का निर्देश करना चाहता हूँ, जिनकी रचनाएँ भले ही आज उपलब्ध न हों, किन्तु उनके यत्र-तत्र बिखरे हुए उद्धरणों से यह स्पष्ट विदित होता है कि उनकी रचनाएँ शताब्दियों तक निश्चय ही लोकमानस को अनुप्राणित करती रही हैं और जिनकी पुष्टि संस्कृत एवं प्राकृत-साहित्य से होती है। ऐसे कवियों में ईसाण, चउमुह (अपरनाम चउराणण), दोण, गुणिड्ढ, गउडकवि, पल्लकित्ति, अणुराय, जीवएव, गोइंद, भल्लसेण, णील, सुग्गीव प्रभृति के नाम प्रमुख हैं। महाकवि स्वयम्भू, नयनन्दि, पुष्पदन्त, धवल एवं धनपाल के ग्रन्थों की प्रशस्तियों एवं अन्य प्रमाणों के आधार पर इनका प्रारम्भिक इतिवृत्त तैयार किया जा सकता है। यहाँ उक्त कुछ कवियों के कृतित्व एवं व्यक्तित्व पर प्रकाश-निक्षेप किया जा रहा है।

चउमुह :

महाकवि चउमुह (चतुर्मुख) का सर्वप्रथम उल्लेख कवि स्वयम्भू ने अपने 'स्वयम्भू-छन्दस्' नामक ग्रन्थ में किया है तथा अपने छन्द-लक्षणों में उदाहरण देने हेतु उसके कुछ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पद्यों को उद्धृत किया है। इन पद्यों का वर्ण्य विषय देखने से विदित होता है कि उसने महाभारत-सम्बन्धी कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा था। त्रिभुवन स्वयम्भू ने उनका उल्लेख चउराणण के नाम से किया है, जो चउमुह का ही नामान्तर है। त्रिभुवन स्वयम्भू ने उसका परिचय देते हुए लिखा है कि :

१. चउमुह ने दुवई एवं ध्रुवकों से जड़ा हुआ पद्धडिया छन्द अर्पित किया।[१] त्रिभुवन स्वयम्भू के इस उल्लेख से हमें पद्धडिया-छन्द और उससे विकसित कडवक छन्द का इतिहास तो प्राप्त हो ही जाता है, उससे यह भी ज्ञात होता है कि पद्धडिया छन्द अथवा कडवक-छन्द प्रारम्भ से ही अपभ्रंश के प्रवन्ध-काव्यों का प्रमुख छन्द रहा है। इसकी पुष्टि अपभ्रंश के निजी छन्द 'दूहा' या 'दोहा' के प्रयोग से होती है। क्योंकि, दोहा छन्द का व्यवहार मुक्तक-काव्य के क्षेत्र में होता था। जिस प्रकार, संस्कृत का अनुष्टुप् छन्द और प्राकृत का गाथा छन्द उनके निजी छन्द माने जाते हैं, उसी प्रकार 'दूहा' या 'दोहा' छन्द अपभ्रंश का निजी छन्द रहा है। चउराणण (चउमुह) के छन्द-विषयक उल्लेख से प्रबन्ध के लिए व्यवहृत होनेवाले पद्धडिया की सूचना विशेष उपयोगी है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि चउमुह की रचनाएँ प्रबन्धात्मक थीं।

२. चउमुह ने महाभारत की गोग्रहण-कथा को इतने सरस रूप में लिखा था कि उसका अन्यत्र उदाहरण दुर्लभ है।[२] त्रिभुवन स्वयम्भू के इस कथन से तथा स्वयम्भू द्वारा उद्धृत चउमुह के महाभारत-सम्बन्धी पद्यों से यह निश्चय हो जाता है कि चउमुह ने महाभारत-कथा-सम्बन्धी कोई ग्रन्थ लिखा था।

'स्वयम्भूछन्दस्' में चउमुह-कृत कुछ ऐसे भी पद्य उद्धृत हैं, जिनका वर्ण्य विषय रामकथा[३] से सम्बन्ध रखता है। कुछ पद्य ऐसे भी हैं, जो आचार एवं सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। इससे प्रतीत होता है कि चउमुह ने 'रामायण' एवं आचार-सिद्धान्त-सम्बन्धी 'पंचमीचरिउ' नामक ग्रन्थों की भी रचना की थी। दुर्भाग्य से ये ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु उनके कुल २४ पद्य उपलब्ध हैं, जिनमें 'महाभारत' के ११ एवं 'रामायण' के १२ पद्य प्रतीत होते हैं, और 'पंचमीचरिउ' का एक पद्य।

द्रोण :

द्रोण कवि का सर्वप्रथम उल्लेख त्रिभुवन स्वयम्भू ने अपने 'रिट्ठणेमिचरिउ' (अप्रकाशित) की अन्त्य प्रशस्ति में किया है। इसके बाद महाकवि पुष्पदन्त[४], धवल[५],

१. दे० रिट्ठणेमिचरिउ (अप्रकाशित, जयपुर-प्रति) अन्त्य प्रशस्ति।
२. उपरिवत्, १।२।९।
३. पउमचरिउ (स्वयम्भू-कृत) अन्त्य प्रशस्ति।
४. तिसट्ठिमहापुराण, प्र० मा०, १।९।५।
५. हरिवंशपुराण (अप्रकाशित, जयपुर-प्रति), १।३।१८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

.CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लक्ष्मण[1], धनपाल[2] एवं रइधू[3] ने बड़े ही आदरपूर्वक उनका स्मरण किया है। इन उल्लेखों से द्रोण की लोकप्रियता एवं कवित्व-शक्ति का तो परिचय मिल ही जाता है, स्वयम्भू के पूर्ववर्त्ती होने की भी जानकारी मिल जाती है, किन्तु उनकी रचनाओं की जानकारी नहीं मिलती।

महाकवि राजशेखर (१०वीं सदी) ने द्रोण का व्यक्तिगत परिचय देते हुए उन्हें कुलाल जाति में उत्पन्न बताया है तथा उनकी प्रतिभा को व्यास ऋषि की प्रतिभा से स्पर्धा करनेवाली कहा है। यथा :

सरस्वतीपवित्राणां जातिस्तत्र न कारणम्।
व्यासस्पर्धी कुलालोऽभूद्यद्द्रोणो भारते कविः ॥ (शार्ङ्गधरपद्धति)

अर्थात्, 'सरस्वती से पवित्र पुरुषों के लिए जात-पाँत का कोई महत्त्व नहीं। कवि द्रोण जाति से कुलाल था, फिर भी, विद्या-बुद्धि में वह व्यास ऋषि का स्पर्धी था।'

राजशेखर के इस कथन से तथा अपभ्रंश-कवियों द्वारा नामोल्लेख से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं :

१. द्रोणकवि भाषाकवि, अर्थात् अपभ्रंश-कवि था।

२. 'व्यासस्पर्धी' कथन से प्रतिभासित होता है कि उसने अपभ्रंश में महाभारत-कथा-सम्बन्धी कोई ऐसी विशाल कृति अवश्य लिखी थी, जो बड़ी लोकप्रिय थी और जो परवर्त्ती कवियों के लिए एक आदर्श ग्रन्थ बनी रही।

ईशान :

ईशान कवि का उल्लेख स्वयम्भू, त्रिभुवन स्वयम्भू, नयनन्दि, पुष्पदन्त, धवल एवं रइधू ने किया है। उन अपभ्रंश-कवियों की स्मरण-प्रक्रिया से ऐसा प्रतीत होता है कि ईशान कवि किसी प्रबन्धकाव्य का निर्माता रहा होगा।

प्राकृत एवं संस्कृत के कवियों ने भी ईशान कवि का स्मरण किया है। प्राकृत के महाकवि हाल सातवाहन की 'गाथासप्तशती' में उनके कुछ पद्य भी उपलब्ध होते हैं, जिनसे उनकी प्रौढ प्रतिभा का परिचय मिल जाता है। उदाहरणार्थ, 'गाथासप्तशती' का एक उद्धरण जिसमें स्वयं नायिका के आदेश से एक दासी ने नायक को दूसरी नायिका से मिलाने का प्रयास किया है, यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है :

सो तुज्झ कए सुंदरि तह छीणो सुमहिलो हलि अउत्तो।
जह से मच्छरिणीए वि दोच्चं जाआए पडिवण्णं ॥ (गाहा०, १।८४)

---

१. जिणयत्तचरिउ (अप्रकाशित, जयपुर-प्रति), १।३।२।
२. बाहुबलिचरिउ (अप्रकाशित, जयपुर-प्रति), १।८।२१।
३. सम्मइजिणचरिउ (प्रकाश्यमान), १।९।१३-१४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात्, हे सुन्दरी, अपनी रूपवती भार्या से युक्त रहते हुए भी हालिकपुत्र तुम्हारे सौन्दर्य से आकृष्ट होकर तुम्हारे लिए इतना क्षीण हो गया है कि तुमसे ईर्ष्या करनेवाली उसकी पत्नी ने ही उसके जीवन की आशंका से उसके लिए मेरे द्वारा दौत्यकर्म कराया है।

एक अन्य गाथा में किसी नवीन नायिका में आसक्त स्वामी के प्रति उसके प्रणय से वंचित उसकी पूर्वप्रणयिनी उसके प्रश्न के उत्तर में कह रही है :

उज्झसि पिआइ समअं तह विहुरे भणसि कीस किसिअंति ।
उवरि भरेण अ अण्णुअ मुअइ वइल्लो वि अंगाइं । (गाहा०, ३।७५)

अर्थात्, तुम अपनी प्रेमिका के साथ मेरे वक्षःस्थल पर ढोये जा रहे हो, फिर भी मेरी कृशता का कारण पूछ रहे हो ? हे अनभिज्ञ, पीठ पर रखे गये भार के दबाव से साँड़ भी क्षीण हो जाता है और उसके भी अंग-प्रत्यंग दुर्बल हो जाते हैं।

संस्कृत के महाकवि बाणभट्ट ने ईशान कवि का अपने मित्र के रूप में उल्लेख कर उसे 'भाषाकवि' कहा है, किन्तु उसने भी ईशान की किसी रचना का उल्लेख नहीं किया। बाणभट्ट के 'भाषाकवि' का अर्थ अपभ्रंश-कवि से ही होना चाहिए; क्योंकि उसने 'प्राकृत-कृतकुलपुत्रो वायुविकारः' कहकर प्राकृत-कवि के अस्तित्व की सूचना पृथक् रूप से दी है।

ईशान कवि-सम्बन्धी उक्त उल्लेखों से निम्नांकित तथ्य सम्मुख आते हैं :

१. ईशान कवि भाषाकवि था। अपभ्रंश का कवि तो वह था ही, किन्तु प्राकृत-भाषा पर भी उसका समानाधिकार था।

२. वह महाकवि बाणभट्ट का समकालीन था। 'गाथासप्तशती' में ईशान के पद्यों को बाणभट्ट के काल के आसपास ही कभी संकलित किया गया होगा।

३. ईशान-कवि का नाम जैन मान्यतानुसार दूसरे स्वर्ग के ईशान-देव के नाम पर होने के कारण उसके जैनकवि होने की सम्भावना है।

४. अपभ्रंश-कवियों के उल्लेखों से अनुमान होता है कि उसने कुछ अपभ्रंश-भाषात्मक जैन रचनाएँ की होंगी, जो काल के दुष्प्रभाव से नष्ट हो गईं।

५. 'गाहासत्तसई' में उद्धृत गाथाओं को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उसने प्राकृत में कोई लक्षण-ग्रन्थ भी लिखा था।

गोइंद :

गोइंद (गोविन्द) कवि का उल्लेख केवल महाकवि स्वयम्भू ने किया है। स्वयम्भू ने उसके जिन अपभ्रंश-पद्यों को उद्धृत किया है, उनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह अलंकृत रचना करने में प्रवीण था। उसने अपने एक काव्य में एक स्थल पर कल्पना की है कि कमल और कुमुद दोनों एक ही स्थान पर उत्पन्न होते हैं, किन्तु कुमुद का विकास चन्द्रोदय से होता है और कमल का विकास सूर्योदय से। जो जिसके निकट रहता है, वह उसके स्नेह को प्राप्त करता ही है। यथा :

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कमल कुमुअह एक्क उप्पत्ति ससि तो वि कुमुआरह ।
देइ सोक्ख कमलह दिवाअरु ।
पाविज्जइ अवस फलु जेण जस्स पासे ठवेइउ ।।
(स्वयम्भू०, ४।९।१)

गोधन की तुलना चाँदनी के निधान से करते हुए कवि एक स्थान पर कहता है :

ठामठर्माहिं घास संतुट्ठ रत्तीहि परिसंठिआ,
रोमंथण वस चलि अगंडिआ ।
दीसंति धवलुज्जला जोण्हाणिहाणाइं व गोहणा ।।
(स्वयम्भू०, ४।९।५)

अर्थात्, स्थान-स्थान पर ग्रास के लिए स्तब्ध रात्रि में टिके हुए, रोमन्थ के कारण चंचल कपोलवाले, श्वेत वर्ण की चाँदनी के निधान की तरह ये गोधन दिखाई पड़ रहे हैं ।

गोइंद के इन पद्यों की तुलना संस्कृत-कवि भट्टि के पद्यों से की जा सकती है । भट्टि ने भी इसी प्रकार की उद्‌भावनाएँ अनेक स्थान पर की हैं ।

स्वयम्भू ने गोइंद कवि के एक ऐसे पद्य को उद्धृत किया है, जो 'महाभारत' की कथा से सम्बन्ध रखता है । इससे यह प्रतीत होता है कि गोइंद ने भी सम्भवतः महाभारत-सम्बन्धी कोई रचना लिखी थी । वह पद्य इस प्रकार है :

एहु विसमउ सुट्‌ठु आएसु पाणंतिउ माणुसहो ।
दिट्ठीविसु सप्पु कालिअउ ।
कंसु विमारेइ धुउ । कहिं गम्मउ काइँ किज्जउ ।।
(स्वयम्भू०, ४।१०।१)

अर्थात्, यह बड़ा ही विषम आदेश दिया गया है, जो मनुष्य के लिए प्राणान्तक है । यह कालिय सर्प दृष्टिविष है, कंस भी निश्चय से मारेगा ही । अतः, अब कहाँ जाया जाय और क्या किया जाय ?

इस कवि का व्यक्तिगत परिचय नहीं मिलता । किन्तु, उक्त पद्यों से उसकी प्रौढ प्रतिभा का परिचय मिल जाता है । उसकी भाषा-शैली से प्रतीत होता है कि वह पाँचवीं-छठीं सदी का कवि रहा होगा ।

जीवएव :

इस कवि का उल्लेख स्वयम्भू एवं त्रिभुवन स्वयम्भू ने किया है । उसके जिन उद्धरणों को प्रस्तुत किया गया है, उनसे प्रतीत होता है कि वह वीर रस का कवि था । 'स्वयम्भूछन्दस्' में उसके कुछ पद्य उपलब्ध हैं, जिनमें एक पद्य इस प्रकार है :

सव्वा भूमी णरसिर भरिआ सलोहिअकद्दमा,
सग्गो सुण्णो हरिहर पमुहा सुरावि समागआ ।
कत्तो गच्छं अमुणिअ णिलअं भणंतमिवाउलं
कंठच्छिण्णं भमइ मउसिरं णहम्मिअ केवलं ।। (१।४३।१)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात्, सम्पूर्ण भूमि मनुष्यों के सिरों से भरी पड़ी है। वह रक्त से लोहित वर्ण तथा पंकिल हो गई है। स्वर्ग शून्य है; क्योंकि हरिहर प्रमुख सभी देवता यहाँ आ गये हैं। 'अज्ञात स्थान में कहाँ जाऊँ?' इस प्रकार कहते हुए व्याकुल कण्ठ से वीर का छिन्न सिर केवल आकाश में ही घूम रहा है।

इस कवि के विषय में अन्य सूचनाएँ नहीं मिलतीं। स्वयम्भू के उल्लेख से यह निश्चित है कि वह उनका पूर्ववर्त्ती कवि है।

सुग्गीव :

कवि सुग्गीव (सुग्रीव) का उल्लेख त्रिभुवन स्वयम्भू ने अपने 'रिट्ठणेमिचरिउ' की प्रशस्ति में किया है। ज्योतिषशास्त्र में हमें सुग्रीव के उल्लेख अनेक स्थानों पर उपलब्ध होते हैं। हमारा अनुमान है कि स्वयम्भू द्वारा उल्लिखित सुग्रीव तथा आचार्य दामनन्दी के शिष्य भट्टवोसरि द्वारा उल्लिखित सुग्रीव एक ही हैं। भट्टवोसरि का समय पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने छठी शती माना है। भट्टवोसरि ने सुग्रीव का उल्लेख इस प्रकार किया है :

सुग्रीवपूर्वमुनिसूचितमन्त्रबीजैः तेषां वचांसि न कदापि मुधा भवन्ति।

(केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि, प्रस्तावना, पृ० ३७)

सुग्रीव की पाँच रचनाएँ ज्ञात हुई हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं: १. आयप्रश्नतिलक, २. प्रश्नरत्न, ३. आयसद्भाव, ४. स्वप्नफल एवं ५. सुग्रीवशकुन।

'आयसद्भाव' नामक एक ग्रन्थ कवि मल्लिषेण का भी उपलब्ध है। उसमें सुग्रीव का उल्लेख इस प्रकार किया गया है :

सुग्रीवादिमुनीन्द्रैः रचितं शास्त्रं यदायसद्भावम्।
तत्सम्प्रत्यार्याभिर्विरच्यते मल्लिषेणेन॥

उक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि सुग्रीव कवि ज्योतिष एवं शकुनशास्त्रों का प्रणेता था। उसे ज्योतिष में आय-प्रणाली का प्रवर्त्तक कहा गया है। बहुत सम्भव है कि उसने कोई अपभ्रंश-रचना भी लिखी हो। उसका समय ५वीं सदी सम्भावित है।

स्थानाभाव के कारण यहाँ अन्य अधिक कवियों का परिचय देना सम्भव नहीं है; किन्तु हमारा विश्वास है कि स्वयम्भू, त्रिभुवन स्वयम्भू, नयनन्दि, पुष्पदन्त, धवल, धनपाल, रइधू आदि द्वारा उल्लिखित कवियों की सूची में लगभग १०० ऐसे कवि एवं लेखक हैं, जिनपर अभी तक कोई विचार नहीं हुआ। किन्तु, यदि प्रयास किया जाय, तो एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक इतिहास की सामग्री प्रकाश में आ सकती है।

महाकवि पुष्पदन्त के महापुराण के एक पादटिप्पण के आधार पर यह जानकारी उपलब्ध होती है कि स्वयम्भू कवि यापनीय संघ के थे। मेरा ऐसा विश्वास है कि स्वयम्भू एवं त्रिभुवन स्वयम्भू ने अपने द्वारा उल्लिखित कवियों में यापनीय संघ के कुछ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्य कवियों एवं आचार्यों के भी उल्लेख किये होंगे। ऐसे कवियों में णाग, पल्लवकित्ति, धम्मसेण, सव्वणंदि एवं कित्तिण्ण के नाम सम्भावित हैं।

स्वयम्भू-कृत 'रिट्ठणेमिचरिउ' में 'वीरवन्दक' नामक एक कवि का उल्लेख भी हुआ है। बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में अपनी मित्र-मण्डली के एक क्षपणक वीरदेव का उल्लेख किया है। सम्भव है, यह वीरदेव ही वीरवन्दक हो। यदि यह अनुमान सही है, तो वीरवन्दक, बाणभट्ट का समकालीन सिद्ध होता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अपभ्रंश-प्रशस्तियों में उल्लिखित नामावली से निम्नांकित तथ्यों की उपलब्धि होती है :

१. पूर्ववर्त्ती एवं समकालीन साहित्य एवं साहित्यकारों की जानकारी मिलती है।
२. कवियों के कालक्रम के निर्धारण में सहायता प्राप्त होती है।
३. रचनाओं के मूल्यांकन में सहायता मिलती है।
४. अप्रकाशित अथवा विस्मृत साहित्य एवं साहित्यकारों की जानकारी उपलब्ध होती है।
५. समकालीन साहित्यिक विधाओं का परिज्ञान होता है।
६. समकालीन राजनीतिक, धार्मिक, भौगोलिक एवं ऐतिहासिक सन्दर्भ-सामग्री की प्राप्ति होती है।

महाकवि श्रीचन्द्र-कृत अपभ्रंश के 'कथाकोष' नामक ग्रन्थ की प्रशस्ति से विदित होता है कि उसने अपना उक्त ग्रन्थ मूलराज नरेश के राज्यकाल में गुजरात के महीयड देश में लिखकर समाप्त किया था।[1] कवि का रचनाकाल वि० सं० १०५२ के आसपास रहा है। इससे यह विदित होता है कि उक्त मूलराज नरेश सोलंकी-वंश का था। उसने वि० सं० ९९८ में चावड़ा-वंश में उत्पन्न अपने मामा सामन्तसिंह को मारकर उसका राज्य छीन लिया था तथा स्वयं गुजरात की राजधानी पाटण की गद्दी का स्वामी बन बैठा था। उसने सं० १०१७ से १०५२ वि० तक राज्य किया था।

उक्त मूलराज के पिता का नाम भीमदेव था। उसके तीन पुत्रों में मूलराज सबसे बड़ा था, जिसकी मृत्यु उसी के सम्मुख हो गई थी। बाकी दो पुत्रों में क्षेमराज ने गद्दी पर बैठना अस्वीकार कर दिया था, अतः तृतीय पुत्र कर्ण[2] का राज्याभिषेक करके भीमदेव गृहत्यागी साधु बन गया था। ये समस्त घटनाएँ श्रीचन्द्र के सम्मुख ही घटित हुई थीं; क्योंकि उक्त नरेश कर्ण के राज्यकाल में श्रीबालपुर नामक स्थान पर श्रीचन्द्र ने अपना दूसरा ग्रन्थ 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' लिखा था।

---

१. मूलराज नृपेन्द्रस्य धर्मस्थानस्य गोष्ठिकः।—कथाकोष, अन्त्य प्रशस्ति।
२. कृष्णनामा (?) सुतस्तस्य गुणरत्नमहोदधेः।—वही, पद्य ४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कवि अमरकीर्त्ति ने अपने 'छक्कम्मोवएस' नामक ग्रन्थ की प्रशस्ति में लिखा है कि उसने उसकी समाप्ति वि० सं० १२४७ के भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष की चतुर्दशी के दिन चालुक्यवंशी राजा वन्दिग्ग के पुत्र कण्ह अथवा कृष्णराजा के राज्यकाल में की थी।[१] कुछ लोग वन्दिग्ग का नाम आधुनिक लोकप्रचलित इतिहास में नहीं पाते, अतः भ्रम में पड़ जाते हैं कि यह वन्दिग्ग और उसका पुत्र कृष्ण कौन है ?

किन्तु, महाकवि पुष्पदन्त के 'महापुराण' के एक प्रशस्ति-वाक्य से इस समस्या का निराकरण हो जाता है। महाकवि ने कृष्ण तृतीय के तीन नामों के उल्लेख किये हैं :[२] १. तुडिगु, २. वल्लभ नरेन्द्र अथवा वल्लभराय एवं ३. शुभतुंगदेव अथवा शुभतुंगाचार्य। वस्तुतः, तथ्य यह है कि राष्ट्रकूट एवं चालुक्य-राजाओं के घरेलू नाम एवं शासनकालीन नाम पृथक्-पृथक् रहे हैं। वन्दिग्ग, राजा अमोघवर्ष का घरेलू नाम था और उनके पुत्र कण्ह अथवा कृष्ण का घरेलू नाम था तुडिगु। चालुक्यनरेशों में उक्त परम्परा प्रचलित रही थी, किन्तु जब चालुक्यों का राज्य राष्ट्रकूट-नरेशों ने छीन लिया, तब वही परम्परा उन्होंने भी अपना ली।[३] वन्दिग्ग एवं कृष्ण तृतीय का पिता-पुत्रत्व-सम्बन्ध सोमदेवकृत 'नीतिवाक्यामृत' की प्रशस्ति से भी सिद्ध होता है।[४]

महाकवि रइधू ने अपनी ग्रन्थ-प्रशस्तियों में राजा डूँगरसिंह, राजा कीर्त्तिसिंह एवं रुद्रप्रताप के उल्लेख किये हैं। आधुनिक इतिहासकार इनका उल्लेख नहीं करके अथवा इनके विषय में सामान्य नामोल्लेख-मात्र करके छोड़ देते हैं। रइधू के अनुसार, राजा डूँगरसिंह तोमरवंश की गोपाचल-शाखा के नृपगणेश का पुत्र था।[५] उसकी पत्नी का नाम चन्दादेवी था।[६] उसकी कोख से कीर्त्तिसिंह[७] नामक एक पराक्रमी एवं तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ था।

कवि ने पुनः लिखा है कि वह सप्तांगराज्यधारी, शासन में प्रवीण, म्लेच्छ-वंश का संहारक एवं गायों के संरक्षण में पराक्रमी था।[८] कौटिल्य के अनुसार, दुर्ग, राष्ट्र, खनि,

१. जं चालुक्क वंसिणयजाणउ। पालइ कण्ह णरिंदु पहाणउ ॥
णिव वंदिग्ग देव तणु जायउ। .... ॥
—अमरकीर्त्ति-कृत 'छक्कम्मोवएस', आद्य प्रशस्ति।

२. डॉ० पी० एल० वैद्य द्वारा सम्पादित पुष्पदन्त-कृत महापुराण, प्र० भा० की अँगरेजी-प्रस्तावना, माणिकचन्द्र सीरीज (सन् १९३७ ई०), पृ० २९।

३. जैनसाहित्य और इतिहास (नाथूराम प्रेमी), बम्बई, सन् १९५६ ई०, पृ० २४।

४. यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य (सोमदेव), वाराणसी, सन् १९६० ई०, प्रस्तावना, पृ० २०।

५. धण्णकुमारचरिउ, १।३ घत्ता।

६. मेहेसरचरिउ, १।५।४।

७. सिरिवालचरिउ, १०।२३।५।

८. पासणाहचरिउ, १।५।६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सेतु, वन, वज्र एवं व्यापार ये सप्तांग कहलाते हैं। रइधू के अनुसार भी राज्य की परिपूर्णता के लिए उक्त अंग अनिवार्य थे। डूंगरसिंह के संघर्ष, पुरुषार्थ एवं पराक्रम का रइधू ने प्रचुर वर्णन किया है। साथ ही, उसके काल में साहित्य, कला, संस्कृति एवं सर्वधर्मसमन्वय का समृद्ध एवं सात्त्विक वातावरण की भी चर्चाएँ की हैं। इतिहासकार भले ही उसके विषय में मौन रहें, किन्तु रइधू के वर्णन से यह स्पष्ट है कि उत्तर भारत में उत्तर-मध्यकालीन इतिहास में ऐसा सशक्त एवं आदर्श राजा दूसरा नहीं हुआ।

रइधू ने डूंगरसिंह की राज्य-परिषद् के व्यक्तियों का निरूपण करते हुए उसके 'पंचांगमन्त्र'[1] की चर्चा की है। वही मन्त्र अथवा मन्त्री सफल हो सकता है, जो राज्य के अभ्युदय एवं सुरक्षा के हेतु समयोचित परामर्श देने की क्षमता रखता हो। रइधू ने मन्त्री के गुणों एवं विशेषताओं का निरूपण 'पंचांग' शब्द से अभिहित किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मन्त्र के पाँच अंग इस प्रकार बताये गये हैं : 'कर्मारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसम्पद् देशकालविभागो विनिपातप्रतीकारः कार्यसिद्धिरिति पञ्चाङ्गमन्त्रः।' (कौटिल्य, १।१०।१), अर्थात्, कार्यारम्भ करने का उपाय, पुरुष तथा द्रव्यसम्पत्ति, देशकाल का विभाग, विघ्न-प्रतिकार और कार्यसिद्धि ये पंचांगमन्त्र कहलाते हैं।

डूंगरसिंह को मालवा के हुशंगशाह, दिल्ली के मुबारिकशाह तथा अन्य कई शत्रुओं से समय-समय लोहा लेना पड़ा। रइधू ने इन राजाओं को म्लेच्छ-वंश का राजा कहा है। ये शत्रु राजा प्रजाओं को तो सताते ही थे, गायों का अपहरण एवं वध भी किया करते थे। राजा डूंगरसिंह ने बड़े ही पराक्रम के साथ उन राजाओं को परास्त करके प्रजा एवं गोधन की सुरक्षा की थी।

डूंगरसिंह के आमन्त्रण पर कवि रइधू ग्वालियर-दुर्ग में कई वर्षों तक रहे तथा अपने कई ग्रन्थों का प्रणयन उन्होंने वहीं से किया था।[2]

राजा कीर्त्तिसिंह को आधुनिक इतिहासकार करणसिंह अथवा कर्णदेव के नाम से जानते हैं। कीर्त्तिसिंह एवं इसके पिता राजा डूंगरसिंह के राज्यकाल में गोपाचल-दुर्ग में लगातार ३३ वर्षों तक जैनमूर्त्तियों का निर्माण हुआ था। वहाँ सुव्यवस्था थी और मौलिक साहित्य का प्रणयन होता रहा। जैन साहित्य, कला एवं संस्कृति के राज्याश्रय एवं संरक्षण के ऐसे आदर्श उदाहरण अन्यत्र कठिनाई से ही प्राप्त हो सकेंगे।

राजा रुद्रप्रताप चन्द्रवाडपट्टन-शाखा के चौहानवंश का प्रतापी राजा था। आधुनिक इतिहासकारों ने इन राजाओं की क्रमबद्ध वंशावली एवं कार्यकलाप की कोई विशेष सूचना नहीं दी। किन्तु, मध्यकालीन अपभ्रंश-ग्रन्थों की प्रशस्तियों में इनकी वंशावली एवं कार्यकलाप की पर्याप्त सूचनाएँ मिल जाती हैं। इन्हें देखकर यह विदित होता है कि वे प्रजावत्सलता, राज्यसमृद्धि, शान्त एवं सात्त्विक वातावरण की सृष्टि, सर्वधर्मसमन्वय,

१. पासणाहचरिउ, १।५।२।
२. सम्मइजिणचरिउ, १।३।९-१०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मौलिक साहित्य की अभिवृद्धि, साहित्यकारों के प्रति आदर-सम्मान तथा कला और संस्कृति के उन्नयन के एक आदर्श उदाहरण हैं।

कवि लक्ष्मणसेन[1] (वि० सं० १३१३), धनपाल[2] (वि० सं० १४५४) एवं 'नागकुमारचरित'[3] (अप्रकाशित, वि० सं० १५११) नामक ग्रन्थ के अनुसार यह वंशावली इस प्रकार बनती है :

भरतपाल
|
अभयपाल
|
णाहड
|
बल्लाल
|
आहवमल्ल (वि० सं० १३१३)
|
? ? ?
|
समरीराय
|
सारंगनरेश
|
अभयचन्द्र (वि० सं० १४१४)

↓ जयचन्द्र — ↓ रामचन्द्र (वि० सं० १४५४–६८)

रामचन्द्र ↓ प्रतापरुद्र — ↓ रणवीरसिंह

प्रतापरुद्र ↓ भोजराज

भोजराज ↓ माधवचन्द्र (वि० सं० १५११) — ↓ कनकसिंह — ↓ नृसिंह

प्रस्तुत राजवंशावली के आधार पर चौहानों की चन्द्रवाडपट्टन-शाखा के राजाओं एवं चन्द्रवाड-राज्य के इतिहास के लेखन में पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

इस राजवंश की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि उसने अपनी मन्त्रिपरिषद् में जैनों को प्रमुखता दी; क्योंकि उनकी चतुराई, कार्यकुशलता, आर्थिक सहयोग एवं

१. अणुवयरयणपईव, आद्य-प्रशस्ति।
२. बाहुबलिदेवचरिउ, आद्य प्रशस्ति।
३. उपरिवत्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्यागवृत्ति से ये नरेश काफी प्रभावित रहे। नरेशों ने भी जैनधर्म, कला, साहित्य एवं संस्कृति के विकास में बहुमूल्य योगदान किया।

मध्यकाल में नरेशों के मन्त्रियों की वृत्ति दो प्रकार की पाई जाती है। एक ओर वे साहित्य, समाज एवं धर्म के कार्यों में बड़ी अभिरुचि रखते थे, तो दूसरी ओर राज्य के शत्रुओं से लोहा लेने के लिए भी तत्पर रहते थे। महाकवि पुष्पदन्त ने अपने आश्रयदाता तथा राजा कृष्ण तृतीय के परम विश्वस्त मन्त्री भरत के विषय में लिखा है[1] कि 'युद्धों का बोझ ढोते-ढोते उनके कन्धे घिस गये थे।' पुनः लिखा है कि 'भरत का महल विद्या-विनोद का स्थान बन गया था। वहाँ पाठक निरन्तर पढ़ते रहते थे, गायक गाते रहते थे और लेखक सुन्दर-सुन्दर काव्य लिखा करते थे।' 'उस भरत में न तो गुणों की कमी थी और न उसके शत्रुओं की ही कमी थी।' 'वह सारी कलाओं और विद्याओं में कुशल था। प्राकृत-अपभ्रंश-कवियों की रचनाओं पर वह मुग्ध था। उसने सरस्वती का दूध पिया था। लक्ष्मी उसे चाहती थी। वह सत्यप्रिय एवं निर्मत्सर था।'

महाकवि रइधू ने डूँगरसिंह तोमर के एक मन्त्री कमलसिंह संघवी के विषय में लिखा है कि वह मन्त्रिपरिषद् का सबसे चतुर, कुशल एवं विश्वस्त मन्त्री था। अन्य एक दूसरे स्थल पर लिखा है कि उसने गोपाचल को 'पुण्यतीर्थ' बना दिया था। उसका हृदय उसी प्रकार स्वच्छ एवं निर्मल था, जिस प्रकार कैलासशृंग। उसकी साहित्य-रसिकता एवं कवियों के प्रति भक्ति का भाव अद्भुत था। वह महाकवि रइधू से अपने स्वाध्याय के लिए एक मौलिक ग्रन्थ की रचना करने की विनती करते हुए कहता है: "हे कविवर, शयनासन, हाथी, घोड़े, ध्वजा, छत्र, चँवर, सुन्दर रानियाँ, रथ, सेना, सोना-चाँदी, धन-धान्य, भवन, सम्पत्ति, कोष, नगर, देश, ग्राम, बन्धु-बान्धव, सुन्दर सन्तान, पुत्र, भाई आदि सभी सुख-सामग्री सौभाग्य से मुझे उपलब्ध है। किन्तु, इतना सब होने पर भी मुझे एक वस्तु का अभाव निरन्तर खटकता रहता है और वह यह कि मेरे पास काव्य-रूपी एक भी सुन्दर मणि नहीं है। इसके अभाव में मेरा सारा वैभव फीका-फीका लगता है। अतः, हे कविश्रेष्ठ, मुझपर कृपा कीजिए तथा एक काव्यग्रन्थ की रचना कर दीजिए।"[2] कवि ने संघवी की उक्त प्रार्थना स्वीकार कर ली तथा उसके निमित्त 'सम्मत्तगुणणिहाणकव्व' नामक एक अपभ्रंश-ग्रन्थ की रचना की।

अपनी ग्रन्थ-प्रशस्तियों में कवियों ने अपने आश्रयदाता नगरश्रेष्ठियों का भी परिचय दिया है। महाकवि रइधू ने इस दिशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ दी हैं। उनकी उपलब्ध २४ रचनाओं में से लगभग ११ रचनाओं में ११ श्रेष्ठियों का विस्तृत परिचय मिलता है। कई श्रेष्ठियों की तो ११-११ पीढ़ियों के नामक्रम एवं उनके कार्य-कलाप की चर्चाएँ आई हैं। यदि इनपर गम्भीरता के साथ अन्वेषण हो, तो मध्यकालीन सामाजिक जीवन का एक सुन्दर एवं सजीव चित्र खींचा जा सकता है।

---

१. पुष्पदन्त-कृत महापुराण, १।५।

२. सम्मत्तगुणणिहाणकव्व, आद्य प्रशस्ति (अप्रकाशित, जयपुर-प्रति)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह श्रेष्ठिवर्ग एक ओर देश के आर्थिक विकास में पूर्ण सहयोग प्रदान करता था, तो दूसरी ओर साहित्य के संरक्षण एवं साहित्यकारों को प्राश्रय देकर मौलिक साहित्य-सर्जन में रचनात्मक सहयोग किया करता था। रइधू के एक आश्रयदाता का नाम खेऊसाहू था। उसका विदेश से भी व्यापारिक सम्बन्ध था। हीरे, मोती तथा कीमती कपड़ों का वह सर्वप्रधान व्यापारी था। उसकी प्रार्थना पर कवि ने 'पासणाहचरिउ' नामक एक सुन्दर चरितकाव्य लिखा था। जब कवि ने उसे लिखकर साहू को समर्पित किया था, तब खेऊसाहू प्रसन्नता से भरकर तथा ग्रन्थ को सिर पर रखकर नाचने लगा और उसने उसी समय विदेशों से आये हुए बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से कवि को लाद दिया।[1]

ग्रन्थ-समाप्ति के बाद लिखी जानेवाली पुष्पिकाओं में लिपिकर्त्ताओं ने भी लिपि-कार्य की समाप्ति के काल को सूचित करते हुए समकालीन राजाओं, सम्राटों तथा अन्य अनेक सन्दर्भों के उल्लेख किये हैं, जिनसे राजनीतिक परिस्थितियों, भौगोलिक सीमाओं आदि के सम्बन्ध में सूचनाएँ मिलती हैं। इन पुष्पिकाओं के अनुसार, भारतवर्ष में वि० सं० १३९९ से १७९५ तक विभिन्न भागों में निम्नांकित कुछ प्रमुख मुस्लिम एवं हिन्दू-राजाओं का राज्य था :

राजा	विक्रमाब्द	स्थान	विशेष
१. मुहम्मदशाह	११९९	योगिनीपुर (दिल्ली)	
२. महमूदशाह	१४६१	,,	(समसू-राजावली)
३. मुबारिकशाह	१४९७	,,	इसका मन्त्री हेमराज
		,,	जैन था।
४. सुलतान गयासुद्दीन	१५३३	,,	
५. फिरोजखान	१५४१–४५	लाडनूँ (राजस्थान)	
६. वहलोल	१५४२	हिसार पिरोजा	
७. हुमायूँ	१५५४		
८. इब्राहीमशाह	१५७७–८२	कुरुजांगल सिकन्दराबाद फिरोजाबाद	
९. आलमशाह	१५८४	कालपी	(बाबर के राज्यकाल में)
१०. बाबर	१५८७	कुरुजांगल	
११. सलीम	१६०७		
१२. जहाँगीर	१६७२–७४	बीजवाड़ा, अहमदाबाद	
१३. शाहजहाँ	१६८९–९२	इन्द्रप्रस्थ	

---

१. पासणाहचरिउ, अन्त्य प्रशस्ति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राजा	विक्रमाब्द	स्थान	विशेष
१४. मुलकगीर	१७३३	दिल्ली	
१५. आलम	१७६५	चम्पावती	(आधुनिक चाकसू, राजस्थान)
१६. नादिरशाह	१७९५		इसके द्वारा किये गये नर-संहार की सूचना दी गई है।
१७. राजा वीरम तोमर	१४५७–७६	गोपाचल	
१८. मानसिंह	१५४५	अकबरनगर	(राजमहल : बंगाल)
१९. राव रामचन्द्र	१५८१	घटयालीनगर	चम्पावती
२०. रायवीरम राठौड़	१५९४	चम्पावती	
२१. रामचन्द्र	१६१०	तक्षकगढ़ दुर्ग	(सलीम के राज्य में)
२२. भारमल कछवाहा	१६२३	गढ़ चम्पावती	
२३. महाराज सुरजन सिंह सोलंकी	१६३१	टोंक	
२४. राव भगवानदास	१६३२	चम्पावती-दुर्ग	
२५. पातसाहि अनंगशाह	१७४५	ढाका	
२६. राजा कुशलसिंह	१७८५	भिलायनगर	

उक्त राजाओं का समय एवं स्थान इतिहास की दृष्टि से विश्वसनीय एवं प्रामाणिक इसलिए है कि उनके काल एवं राज्य में बैठकर ही लिपिकारों ने ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ की थीं।

भौगोलिक दृष्टि से भी अपभ्रंश-ग्रन्थों की प्रशस्तियों एवं पुष्पिकाओं से ऐतिहासिक तथ्यों की जानकारी में बड़ी सहायता मिलती है। एक प्रशस्ति के अनुसार, चन्द्रवाडपट्टन कुशस्थल देश में था।[1] कुशस्थल का दूसरा नाम कुसत्थ या कुशार्त्त भी मिलता है। चन्द्रवाड आजकल फिरोजाबाद (आगरा) में एक छोटा-सा गाँव रह गया है और चन्दुवार के नाम से जाना जाता है। अपभ्रंश-प्रशस्तियों के अनुसार, वि० सं० १३१३ से १५२० के मध्य उसका वैभव चरमोत्कर्ष पर था।

अपभ्रंश-प्रशस्तियों के अनुसार, हरियाना का सोनीपत मध्यकाल में स्वर्णपथ के नाम से प्रसिद्ध था और वह कुरुजांगल देश में था। इसी प्रकार, वि० सं० ११०९ की एक पुष्पिका के अनुसार, पंजाब का पश्चिमी-दक्षिणी हिस्सा, जिसमें हिसार एवं रोहतक आदि प्रमुख थे, हरियाना देश के नाम से प्रसिद्ध था।

---

१. दे० रइधू-कृत पुण्णासवकहा-प्रशस्ति (अप्रकाशित)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपभ्रंश-कवियों ने वर्त्तमान दिल्ली को तीन नामों से अभिहित किया है—ढिल्ली[1], इन्द्रप्रस्थ एवं योगिनीपुर[2]। १२वीं सदी के अन्त में ढिल्ली तथा उसके पश्चाद्वर्त्ती अपभ्रंश-साहित्य में योगिनीपुर का ही उल्लेख बहुतायत से हुआ है। इन्द्रप्रस्थ का नाम तो क्वचित्-कदाचित् ही मिलता है।

महाकवि रइधू की एक प्रशस्ति के अनुसार, वर्त्तमान हिसार (हरियाना) का नाम प्रारम्भ में हिसार-पिरोजा था। उसकी स्थापना सुलतान फीरोज ने की थी। आधुनिक इतिहासकार भी उससे सहमत हैं। उनके कथनानुसार, उसकी स्थापना सन् १३५४ ई० में हुई थी। इस कथन का रइधू के कथन से मेल बैठ जाता है। रइधू ने हिसार की अनेक साहित्यिक यात्राएँ की थीं, उनके यहाँ अनेक साहित्यरसिक भक्त लोग निवास करते थे, इसीलिए बार-बार आना-जाना बने रहने के कारण, हिसार की स्थापना के विषय में रइधू को पूर्ण जानकारी रही होगी।

मध्यकालीन साहित्य-साधना में भट्टारकों का प्रमुख प्रेरक स्थान रहा है। साहित्य-संरक्षण, साहित्य-लेखन, साहित्यकारों की उत्साह-वृद्धि तथा सामाजिक सम्पर्क इनके प्रमुख कार्य थे। मन्त्र-तन्त्र आदि में निष्णात होने के कारण विविध प्रकार के चमत्कारों से राजाओं को भी प्रभावित करते रहते थे और उनसे राजकीय सुविधा एवं सुरक्षा भी प्राप्त करते रहते थे। वस्तुतः, भट्टारक मध्यकालीन जैनसमाज एवं धर्म के संरक्षक नेता के रूप में कार्य करते रहे हैं। उनके अवदानों को विस्मृत नहीं किया जा सकता। इतना होने पर भी उनका व्यक्तिगत विस्तृत परिचय प्राप्त करने के साधन कठिन ही हैं। अपभ्रंश-कवियों ने यद्यपि उनकी कुछ परम्पराओं को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है, तथापि उसमें कहीं-कहीं क्रमभंग भी हुआ है।

काष्ठासंघ, माथुरगच्छ की पुष्करगण-शाखा के भट्टारकों की जो परम्परा अभी तक प्रकाशित हुई है, उसमें तथा अप्रकाशित ग्रन्थों की पुष्पिकाओं में जो क्रम-परम्परा मिलती है, उसमें मतैक्य नहीं है। उदाहरणार्थ, वि० सं० १४७९ ई० की एक पुष्पिका में भट्टारक गुणकीर्त्ति के साथ उनकी परम्परा में भट्टारक विशालकीर्त्ति, रामकीर्त्ति एवं खेमकीर्त्ति के नाम आते हैं और तत्पश्चात् भट्टारक यशःकीर्त्ति का उल्लेख आता है, जबकि वि० सं० १४९४, १५०४, १५७७, १५८२ एवं १५८७ की प्रशस्तियों में भ० गुणकीर्त्ति का शिष्य यशःकीर्त्ति को ही बताया गया है।

वि० सं० १४९४ की एक प्रशस्ति में भट्टारक सहस्रकीर्त्ति के बाद भट्टारक नेमकीर्त्ति का उल्लेख मिलता है और तदनन्तर भट्टारक गुणकीर्त्ति का, जबकि अन्यत्र भट्टारक नेमकीर्त्ति का उल्लेख मिलता ही नहीं।

---

१. विबुधश्रीधर-कृत पासणाहचरिउ-प्रशस्ति (अप्रकाशित)।

२. रइधू-कृत सम्मइजिणचरिउ-प्रशस्ति (अप्रकाशित)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वि० सं० १४७९ ई० की एक पुष्पिका में भट्टारक यशःकीर्त्ति के शिष्यों के नाम कुमारकीर्त्ति एव हरिभूषण के उल्लेख मिलते हैं। इसी प्रकार, वि० सं० १५०४ ई० की एक पुष्पिका में भट्टारक यशःकीर्त्ति के शिष्य भावसेन तथा भुवनकीर्त्ति की चर्चा की गई है, किन्तु रइधू ने पाल्हब्रह्म, हरिषेण एवं खेमचन्द्र का उल्लेख किया है।

भट्टारकों की परम्परा में इतना परिवर्त्तन कैसे हो गया, यह वास्तव में एक अन्वेषणीय विषय है।

ग्वालियर-दुर्ग जैनमूर्त्तियों का एक महान् केन्द्र माना गया है। विशाल दुर्ग की शायद ही कोई ऐसी शिला हो, जिसपर जैन-तीर्थंकर की मूर्त्ति न उकेरी गई हो। रइधू ने उन मूर्तियों को अगणित कहकर उनका लेखा-जोखा लगाने में बृहस्पति को भी असमर्थ कहा है।[1] उन्हीं मूर्त्तियों में एक ५२ गज ऊँची आदिनाथ तीर्थंकर की भी मूर्त्ति है। उसपर अंकित लेख का अध्ययन सर्वप्रथम इतिहासवेत्ता श्रीराजेन्द्रलाल हाड़ा ने किया था और सिद्ध किया था कि 'काला' नामक किसी व्यक्ति ने उसे प्रतिष्ठित कराया था।[2] किन्तु श्रीहाड़ा का यह अध्ययन भ्रामक है। उसकी प्रतिष्ठा स्वयं रइधू ने की थी। रइधू ने अपने 'सम्मत्तगुणणिहाणकव्व' (अप्रकाशित) की प्रशस्ति में इसका पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है।[3] इस प्रशस्ति एवं मूर्त्तिलेख के आधार से निम्नांकित तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है :

१. ग्वालियर-दुर्ग की ५२ गज ऊँची आदितीर्थंकर की मूर्त्ति वि० सं० १४९७ में तोमरवंशी राजा डूँगरसिंह के राज्य में, गोपाचल-दुर्ग में, कमलसिंह संघवी ने निर्मित कराकर महाकवि रइधू से प्रतिष्ठित कराई थी।

२. मूर्त्तिलेख में जिन पदों को श्रीराजेन्द्रलाल हाड़ा ने 'कांचीसंघ', 'मायूरान्वय' एवं 'रघू' पढ़ा था वे वस्तुत 'काष्ठासंघ', 'माथुरान्वय' एवं 'रइधू' हैं।

३. 'सम्मत्तगुणणिहाणकव्व' में साहू भोपा के चार पुत्र बताये गये हैं; किन्तु मूर्त्तिलेख से विदित होता है कि उनका धनपाल नामक पाँचवाँ पुत्र भी था। जन्मक्रमानुसार धनपाल चतुर्थ पुत्र था एवं पाल्हा पाँचवां पुत्र। यह क्रमभंग आश्चर्यजनक है।

४. मूर्त्तिलेख में श्रीहाड़ा ने 'ज्येष्ठपुत्रमधायिपतिकौल' पढ़ा है, वह वस्तुतः 'ज्येष्ठपुत्रसंघपतिकमल' होना चाहिए।

५. मूर्त्तिलेख में पठित 'भार्या च ज्येष्ठस्त्री सरस्वती पुत्र मल्लिदास द्वितीय भार्या साध्वीसरा पुत्र चन्द्रपाल। क्षेमसी पुत्र द्वितीय साधु श्रीभोजराजा भार्यो देवस्य पुत्र पूर्णपाल........।' पाठ भी भ्रामक है। क्योंकि, रइधू-प्रशस्ति के अनुसार यह

१. सम्मत्तगुणणिहाणकव्व (अप्रकाशित), १।१३।५।

२. JASB, XXXI, P 404, 422-23, T. 2. Tr.

३. सम्मत्तगुणणिहाणकव्व, ४।३५।१–२० (अप्रकाशित)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बिलकुल स्पष्ट है कि कमलसिंह संघवी की सरस्वती नाम की एक ही पत्नी थी तथा उससे मल्लिदास नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ था। चन्द्रपाल कमलसिंह का पुत्र नहीं, वस्तुतः उसके छोटे भाई भोजराज का ज्येष्ठ पुत्र था।

६. श्रीराजेन्द्रलाल हाड़ा ने मूर्त्तिलेख में....'काला सदा प्रणमति' पाठ पढ़ा है, वह वस्तुतः 'कमलसिंहः सदा प्रणमति' पाठ होना चाहिए।

उक्त मूर्त्ति के अतिरिक्त अन्य मूर्त्तियों के कुछ निर्माताओं के उल्लेख भी रइधू की ग्रन्थ-प्रशस्तियों में प्राप्त हो जाते हैं। उनमें कुछ नाम इस प्रकार हैं: हिसारनिवासी ब्रह्म० खेल्हा, असपति साहू, जो राजा डूँगरसिंह का आपूर्त्ति-मन्त्री था; योगिनीपुर-निवासी संघपति नेमदास एवं संघपति सहदेव। इन लोगों ने सहस्रों जैनमूर्त्तियों का निर्माण गोपाचल-दुर्ग में कराकर उसे जैनतीर्थ बना दिया था।

सोनागिर मध्यप्रदेश का प्रमुख तीर्थ एवं विद्याकेन्द्र रहा है। साधकों के लिए वह तपोभूमि के रूप में भी प्रसिद्ध रहा है। वहाँ की भट्टारकीय गद्दी ने साहित्य-लेखन एवं प्रचार-प्रसार के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। आश्चर्य यही रहा कि उसका संस्थापन-काल एवं इतिहास अज्ञात था; किन्तु रइधू की एक ग्रन्थ-प्रशस्ति से विदित होता है कि काष्ठासंघ, माथुरगच्छ की पुष्करगण-शाखा के भ० कमलकीर्त्ति ने वि० सं० १५१७ के आसपास उसकी स्थापना की थी तथा अपने पट्टशिष्य भ० शुभचन्द्र को उसका पट्टधर नियुक्त किया था।[1]

ब्राह्मणों, सुनारों एवं कायस्थों ने भी जैनसाहित्य की अमूल्य सेवाएँ की हैं। पूज्यपाद, जिनसेन, पुष्पदन्त, हस्तिमल्ल, देवदत्त दीक्षित प्रभृति विद्वान् मूलतः ब्राह्मण थे, किन्तु बाद में जैनत्व धारण कर उन्होंने जैनसाहित्य की जो सेवाएँ की हैं, परवर्त्ती कवियों के लिए वह एक आधार-साहित्य ही बन गया है।

कायस्थों में महाकवि हरिचन्द्र ने 'धर्मशर्माभ्युदय' नामक ग्रन्थ का प्रणयन कर सारे जगत् को आश्चर्य में डाल दिया और उनकी तुलना महाकवि कालिदास की कोटि में की जाने लगी।

तोमरवंशी राजा वीरम के राज्यकाल में पद्मनाभ कायस्थ द्वारा लिखित संस्कृत भाषात्मक 'यशोधरचरित' अथवा 'दयासुन्दरकाव्य' इतनी सुन्दर रचना मानी जाने लगी थी कि परवर्त्ती कवियों के लिए वह एक आदर्श ग्रन्थ ही बन गया था। वि० सं० १७२१ में शाह लोहट ने एवं वि० सं० १७८१ में लक्ष्मीदास ने उसके अनुकरण पर क्रमशः 'यशोधरचरित' एवं 'यशोधरचउपइ' बन्धकथा लिखी थी।

कायस्थों की चतुराई, कार्यकुशलता एवं कलाप्रियता सुप्रसिद्ध है। प्रशस्तियाँ देखने से विदित होता है कि मध्यकालीन साहित्यकार कायस्थों को अपने व्यक्तिगत सहायक के रूप में रखने में अधिक प्रसन्नता का अनुभव करते थे। मध्यकालीन कई ग्रन्थों

---

१. रइधूकृत हरिवंशपुराण (अप्रकाशित), आद्य प्रशस्ति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की प्रतिलिपियाँ उन्हीं की हस्तलिपियों में मिलती हैं। ऐसे लिपिकर्त्ताओं में गौगान्वय-कायस्थ पण्डित गन्धर्वपुत्र वाहड राजदेव (वि० सं० १३९१), कायस्थ साधु (वि० सं० १५८०), थलु कायस्थ (वि० सं० १४८६) एवं कायस्थ लक्ष्मण प्रमुख हैं। थलु कायस्थ तो सम्भवतः भट्टारक गुणकीर्त्ति एवं यशःकीर्त्ति के व्यक्तिगत सहायक तथा आशुलिपिक के रूप में भी नियुक्त थे; क्योंकि उनके अधिकांश ग्रन्थ थलु कायस्थ की प्रतिलिपि में प्राप्त होते हैं। कायस्थों में कुछ टीकाकार के रूप में भी नाम मिलते हैं, उनमें श्रीअमरसिंह कायस्थ भट्टारक कमलकीर्त्ति कृत 'तत्त्वसार' के एवं पं० गोविन्द 'पुरुषार्थानुशासन' नामक किसी ग्रन्थ के टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं।

मध्यकालीन कवियों की ग्रन्थान्त-पुष्पिकाओं में एक और विशेषता मिलती है, जो प्रायः नवीन है। उन्होंने तिथिक्रम को सूचित करने के लिए एक रहस्यपूर्ण शैली का प्रयोग किया है। यद्यपि वह लोकप्रचलित न होने एवं जनसामान्य की समझ से परे होने के कारण लोकप्रिय नहीं है, और केवल पाण्डित्य-प्रदर्शन-हेतु ही लिखी गई है, तथापि शैली-विशेष की दृष्टि से उसमें नवीनता एव मनोरंजकता अवश्य दिखाई देती है। उसके कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं :

विधुवाधिनेत्रहिमगो (१२४१) वर्षेऽब्धीषुरसैकम् (१६५४)
चन्द्रबाणाष्टषष्ठाङ्कः (१५८६) वत्से गुणाग्रबीतेन्दुयुते (१७०३)
खरर्षिभूमीन्दुयुते (१७००) गुणरुद्रनेत्रवसुचन्द्रयुते (१८३६)
शरसूर्यचन्द्रगणिते (११२५) वसुहतद्वंते शते (१६००)
शरविसरभुजंगाहीलिका (१८९५) वेदैन्यूनतरे समे (१६०३)
निधिद्गगश्वशशांकयुक्ते (१७२९) रसनयनसमेते बाणयुक्तेन चन्द्रेण (१५२६)
रसवृषयतिचन्द्रे (१७१६) भूभृन्नेत्राचलशशधराङ्कप्रभे (१७२७)
वस्वष्टयुक्तसप्तेन्दुयुते (१७८८)

इस प्रकार, यहाँ अपभ्रंश-ग्रन्थों की प्रशस्तियों के आधार पर विभिन्न ऐतिहासिक सन्दर्भ-सामग्री पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। किन्तु, इससे यह निश्चय हो जाता है कि भारतीय इतिहास को सर्वांगीण एवं प्रामाणिक बनाने के लिए इन प्रशस्तियों के निष्पक्ष, गहन एवं तुलनात्मक अध्ययन की अत्यावश्यकता है। यदि ऐसा हो सका, तो निश्चय ही, भारतीय इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण कार्य होगा।

●●

△ अध्यक्ष, संस्कृत-प्राकृत-विभाग
ह० दा० जैन कॉलेज, आरा (बिहार)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भोजपुर की हिन्दी-पत्रकारिता

△ श्रीअरविन्दकुमार

देश की अन्य जगहों की तरह भोजपुर भी हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। भोजपुर की पत्रकारिता का इतिहास देश की स्वतन्त्रता के पहले का है। तब यह भोजपुर नहीं, शाहाबाद था। स्वतन्त्रता के बहुत बाद तक भी यह शाहाबाद ही था। जैसे-जैसे जिलों का विस्तार होता गया, बहुत-से जिले टूटते गये और उनसे ही कुछ नये जिलों ने जन्म लिया। भोजपुर इसी प्रक्रिया का एक परिणाम है। शाहाबाद जब टूटा, तब उससे दो अलग जिलों ने जन्म लिया—एक रोहतास और दूसरा भोजपुर। भोजपुर का मुख्यालय आरा है, वैसे शाहाबाद का मुख्यालय भी आरा ही था। आरा एक ऐतिहासिक नाम है, जिसके साथ देश की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ जुड़ी हुई हैं, देश की उथल-पुथल का एक बड़ा भाग जुड़ा है इस नाम से। भोजपुर की हिन्दी-पत्रकारिता भी मुख्य रूप से इसी आरा से सम्बद्ध है।

भोजपुर की पत्रकारिता का इतिहास बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से शुरू होता है। वैसे यह इतिहास सन् १८९५ ई० में आरा से 'जैन गजट' के प्रकाशन से ही माना जा सकता है। 'जैन गजट' एक मासिक पत्र था, जिसके सम्पादक स्व० देवकुमार जैन थे। यह पत्र सन् १९०६ ई० के बाद तक निकलता रहा और इसी का स्थान सन् १९१२ ई० में 'जैनसिद्धान्तभास्कर' ने लिया, जो कि एक त्रैमासिक शोध-पत्रिका के रूप में सामने आया। 'जैन गजट', जैसा कि इसके नाम से ही पता चलता है, समूचे भारत के जैन-मतावलम्बियों को एक सूत्र में संगठित करने के इरादे से निकला था। जबकि 'जैनसिद्धान्त-भास्कर' के साथ ऐसी बात नहीं थी। जैन विषयों से सम्बद्ध होने के बावजूद इसकी सामग्री शोधपूर्ण हुआ करती थी। पर, चार अंकों के प्रकाशन के बाद ही यह पत्रिका अचानक बन्द हो गई और इसका प्रकाशन एक लम्बे समय तक स्थगित रहा। सन् १९३५ ई० में इसका प्रकाशन दुबारा शुरू हुआ, पर सन् १९४० ई० में आर्थिक संकट के कारण यह त्रैमासिक से अर्द्धवार्षिक हो गया और इसी रूप में सन् १९५५ ई० तक निकलता रहा। पर, एक बार फिर आर्थिक संकट के कारण सन् १९५५ ई० में ही यह बन्द हो गया और लगभग सात-आठ वर्षों तक बन्द रहा। फिर, स्थिति अनुकूल हो जाने पर इसका प्रकाशन तीसरी बार शुरू हुआ और तब से यह नियमित-अनियमित रूप में ही सही, निकल रहा है। इसके वर्त्तमान सम्पादक डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन हैं। इसके भूतपूर्व सम्पादकों में सेठ पद्मराज रानीवाला, पण्डित के० भुजबली शास्त्री और डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री के नाम उल्लेखनीय हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसके बाद सन् १९२० ई० के आसपास स्व० पण्डित ईश्वरीप्रसाद शर्मा द्वारा निकाली गई पत्रिका 'मनोरंजन' का नाम आता है। 'मनोरंजन' पूरी तरह हास्य-व्यंग्य की पत्रिका थी। इसके व्यंग्य बड़े ही तीखे हुआ करते थे। सम्पादकीय टिप्पणियों में भी तीखे व्यंग्यों की चुभन को महसूस किया जा सकता था। इसी के समकक्ष एक और पत्रिका निकाली गई थी, जिसके सम्पादक स्व० आचार्य शिवपूजन सहाय थे। 'मारवाड़ी-सुधार' नामक इस पत्रिका का प्रकाशन यद्यपि स्व० हरद्वारप्रसाद जालान के द्वारा किया जाता था और पत्रिका के सम्पादन का कार्य भी वे आचार्य शिवजी के साथ करते थे, तथापि इस पत्रिका को ज्यादा सम्पादन-सहयोग आचार्य शिवजी का ही मिलता था। इसमें मारवाड़ी जाति के सुधार से सम्बद्ध बातें रहा करती थीं, जैसा कि इसके नाम से ही पता चल जाता है, पर इसके बावजूद आम पाठक के पढ़ने योग्य सामग्री भी रहा करती थी। इसमें हरद्वारप्रसाद जालान के उपन्यास धारावाहिक रूप में छपा करते थे।

सन् १९२६-२७ ई० में हरिहरप्रसाद मुख्तार ने 'राम' नामक एक पत्र निकाला, पर इसमें सिर्फ कचहरी का इश्तहार छपता था। इसके बाद सन् १९३० ई० में व्रजनन्दन सहाय 'व्रजवल्लभ' की एक पत्रिका 'प्रेमभक्ति' का उल्लेख मिलता है, जिसमें प्रेमविषयक सामग्री रहा करती थी, पर इसके अंक अब उपलब्ध नहीं। सन् १९३० ई० में ही 'देश-सेवक' नामक पत्र का भी उल्लेख आता है, जिसके सम्पादक मार्कण्डेय पाण्डेय और फिर भूतपूर्व 'नागर' के सम्पादक अखौरी यशोदानन्दन थे। इस समय भारत का स्वतन्त्रता-आन्दोलन चल रहा था, यह पत्र उसी से सम्बद्ध था। यह एक ऐसा दौर था, जब पूरे देश में आजादी की पृष्ठभूमि तैयार की जा रही थी, छोटे-बड़े स्तरों पर हर जगह आदमी जूझ रहा था और एक दूसरे भारत को आकार देना चाह रहा था। पत्रिकाओं की भूमिका इस दौर में महत्त्वपूर्ण थी। 'स्वाधीन भारत' और 'अग्रदूत' इसी दौर के पत्र हैं। 'स्वाधीन भारत' का पहला अंक, सन् १९३७ ई० में बिहार-हिन्दीसाहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन के अवसर पर विशेषांक के रूप में निकला था और 'अग्रदूत' का अंक भी इसी के आसपास प्रकाशित हुआ था। हालाँकि, इसका प्रकाशन एक-दो अंकों के बाद ही अर्थाभाव के कारण बन्द हो गया था, पर इन एक-दो अंकों से ही पता चलता है कि 'अग्रदूत' एक निर्णय लेकर आया था। इसके सम्पादक रामदयाल पाण्डेय और कृष्णमोहन वर्मा थे। 'स्वाधीन भारत' की भूमिका भी इस दौर में काफी महत्त्वपूर्ण रही थी। इसके सम्पादकीय बड़े ही निर्भीक और स्वतन्त्र हुआ करते थे : अगर भारत को अँगरेजों के चंगुल से छुड़ाना है तो तुम्हें सड़कों पर आना होगा, घर की चौखट के भीतर रहकर फिरंगियों को भगाया नहीं जा सकता। सन् १९४२ ई० के आन्दोलन के पूर्व इसका प्रकाशन बन्द हो गया था। इसके सम्पादक स्व० रामायणप्रसाद तथा बनारसीप्रसाद भोजपुरी थे।

सन् १९३७ ई० के आसपास ही 'हितैषी' नामक पत्र भी निकलता था, जिसके सम्पादक हरनाथ द्विवेदी थे। फिर, सन् १९४१ ई० में 'बालकेसरी' नामक पत्रिका, जो मासिक थी, यहाँ से निकली थी, जिसके सम्पादक त्रिवेणीप्रसाद थे। यह बच्चों की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पत्रिका थी और इसमें बच्चों के लिए काफी स्वस्थ और मनोरंजक सामग्री रहा करती थी। यह पत्रिका कई वर्षों तक निकलती रही।

इसके पश्चात्, आजादी के बाद की पत्रिकाएँ आती हैं। सन् १९५१-५२ ई० में बक्सर से फागू राय के सम्पादकत्व में 'कृषक' नामक पत्र निकलता था। इस पत्र में किसानों के हित की बात हुआ करती थी तथा उनका निर्भीकता से पक्ष लिया जाता था। सन् १९५५ ई० में 'ग्राम-पंचायत' नामक पत्रिका आरा से निकली और कई वर्षों तक लगातार निकलती रही। पहले तो यह पाक्षिक थी, पर बाद में मासिक हो गई। इसके सम्पादक रामसुभग सिंह थे, वैसे इसके सम्पादक-मण्डल में और भी कई लोग थे। इसमें ग्रामोद्धार-सम्बन्धी लेख छपा करते थे और गाँव की समस्याओं को सामने लाने का प्रयास होता था। सन् १९५५ ई० में ही भुवनेश्वरप्रसाद श्रीवास्तव 'भानु' ने 'सप्ताहिक शाहाबाद' नामक पत्र निकाला, जो कुछ दिनों तक चलता रहा। सन् १९५६ ई० में 'सन्तवाणी' का प्रकाशन यहाँ से शुरू हुआ था, जिसके सम्पादक दुलारचन्द थे। इसमें सन्त-साहित्य पर उच्च कोटि के विवेचनात्मक निबन्ध प्रकाशित होते थे और इस पत्रिका ने इसी कारण आध्यात्मिक क्षेत्र में अपनी प्रतिष्ठा भी बना ली थी, पर लगभग तीन वर्षों तक लगातार निकलते रहने के बाद दुलारचन्द की मृत्यु के कारण यह बन्द हो गई। सन् १९५७ ई० में भुवनेश्वरप्रसाद श्रीवास्तव 'भानु' ने एक पत्र 'विकास' नाम से निकाला, जो लगभग तीन वर्षों तक प्रकाशित होता रहा।

इसके पश्चात् सन् १९६० ई० के बाद की पत्रिकाओं का समय आता है। इस दौर की पहली पत्रिका 'साहित्य-संसद्' है, जो सन् १९६४ ई० में आरा से निकली थी। इसके सम्पादक महाकालेश्वर और रामनिहाल गुंजन थे। पर, एक अंक के बाद ही यह पत्रिका बन्द हो गई। इसी के समकक्ष 'दिशा और दृष्टि' नामक पत्र भी निकला, जिसके सम्पादक वेदनन्दन थे। इसके सिर्फ तीन अंक निकले। आरा से ही सन् १९६५ ई० में 'परिवेशन' नाम की एक अनियतकालिक शोध-पत्रिका 'भारतीय जैन साहित्य-संसद्' से प्रकाशित हुई थी, जिसके सम्पादक-मण्डल में डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री भी थे। सन् १९६६ ई० में विजयमोहन सिंह तथा सर्वदेव तिवारी राकेश के सम्पादकत्व में 'सम्बोधन' नाम की पत्रिका निकली, जिसके सिर्फ दो अंक निकल पाये। सन् १९६६ ई० में ही एक और पत्रिका 'समय' नाम की वेदनन्दन के सम्पादकत्व में निकली थी, पर इस पत्रिका का दूसरा अंक फिर देखने को नहीं मिला। इसका एकमात्र अंक 'कविता-विशेषांक' के रूप में आया था, और वह काफी अच्छा था। सन् १९६७ ई० की जुलाई में 'करवटें' नाम से एक पत्रिका सामने आई; जो बाद में 'सीमान्त' के नाम से निकली। इसके सम्पादक जगदीश राय थे। जून, १९६८ ई० में, बगेन से विजेन्द्र अनिल ने 'प्रगति' नामक एक पत्रिका निकाली। सन् १९६९ ई० में, आरा से रामनिहाल गुंजन ने 'विचार' नामक एक पत्रिका निकाली, पर एक अंक के बाद ही यह बन्द हो गई। वैसे पत्रिका अच्छी थी, पर अर्थाभाव इसे भी लील गया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सन् १९७१ ई० के अन्त में यहीं से 'वाम' नाम की पत्रिका निकली, जिसके सम्पादक डॉ० चन्द्रभूषण तिवारी थे। आरा की पत्रिकाओं के इतिहास में यह पत्रिका बिलकुल ही नये रूप में उभरकर आई थी, जिसे लोग आज भी नहीं भूल पाये हैं। इसकी सामग्री काफी तेज-तर्रार रहा करती थी, साथ-साथ इसका सम्पादकीय भी वड़ा ही तीखा रहा करता था— चुभन-भरा। इसके पहले अंक से ही लगा था कि यह एक संकल्प लेकर आई है। और, अगर कुछ दिनों तक निकलती रही, तो जरूर ही कुछ कर सकेगी। पर, अन्य गौण पत्रिकाओं की तरह यह भी अपने केवल तीन अंकों के वाद, फिर देखने को नहीं मिली।

सन् १९७२ ई० में मधुकर सिंह ने 'कथा-कहानी' नामक पत्रिका निकाली, जिसमें मुख्य रूप से कहानी को प्राश्रय दिया गया था। इसमें कई महत्त्वपूर्ण कहानीकारों की कहानियाँ निकली थीं, पर अपने दो अंकों के वाद यह भी बन्द हो गई। सन् १९७३ ई० की जनवरी में सन्तोषकुमार मिश्र और राधाकृष्ण टण्डन ने 'प्रारूप' नामक पत्रिका निकाली, जो प्रवेशांक के वाद ही वन्द हो गई। सन् १९७३ ई० में ही आरा से डॉ० रामनाथ पाठक प्रणयी ने 'अध्यात्मचिन्तन' नाम की पत्रिका के कुछ अंक निकाले थे। यह मूलतः आध्यात्मिक पत्रिका थी। इसमें सन्तों से सम्बद्ध निबन्ध ही छपा करते थे। सन् १९७७ ई० में श्रीराम तिवारी के सम्पादकत्व में 'पक्ष' नाम की पत्रिका निकली, जिसका एकमात्र अंक मूलतः एक लम्वी कविता को समर्पित था। सन् १९७८ ई० में एक अंक 'इस बार' का भी निकला था, जिसके सम्पादक मधुकर सिंह थे। एक लम्वे अरसे तक बन्द रहने के वाद सन् १९८३ ई० में इसका दूसरा अंक निकला। लगभग इसी समय आरा से ही 'निशान्त' नाम की एक पत्रिका निकली थी, जिसके सम्पादक रामेश्वर उपाध्याय और नीरज सिंह थे; पर यह भी एक अंक के बाद बन्द हो गई। साथ ही, आरा से ही निकले पत्रों—'नागरिक', 'मत', 'आलोक', 'विस्फोट', 'शाहावाद-सन्देश' और 'आरा टाइम्स' का उल्लेख करना भी यहाँ प्रासंगिक है। वैसे 'अन्तराल' नामक पत्रिका का भी एक अंक आरा से निकला था, जिसके सम्पादक नचिकेता थे। पहले यह पत्रिका आरा के बाहर से निकला करती थी। पत्रिकाओं के इस इतिहास के साथ आरा के दो महाविद्यालयों की पत्रिकाएँ भी जुड़ी हुई हैं—ये हैं जैन कॉलेज की 'अभियान' तथा महाराजा कॉलेज की 'ईगल'।

ये सारी-की-सारी पत्र-पत्रिकाएँ अनियतकालीन थीं और अपनी ढेर सारी सीमाओं के साथ निकल रही थीं, इसलिए इनका निकलना और बन्द होना पता नहीं चल पाता था। पर, अपने एक या कुछ ही अंकों में इन्होंने एक जमीन तैयार जरूर की, कम-से-कम इसे तो नकारा नहीं ही जा सकता। इनमें जो कुछ भी निकलता रहा, वह दृष्टिसम्पन्न हुआ करता था, और यह निश्चित रूप से एक अच्छी बात थी।

आज भी भोजपुर की सक्रियता कम नहीं। आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा ने इधर 'शोध' नामक पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया है। इसके दो अंक अबतक आ चुके हैं, जिसे देखने से लगता है कि अगर यह निकलती रही, तो निश्चित रूप से इससे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आरा को एक शोध-सहार्घ मंच मिल सकेगा। इसका मुख्य उद्देश्य आरा तथा उससे जुड़े इलाकों की भूली-बिखरी जिन्दगी को एकत्र करना है, उस इतिहास को उभारकर सामने लाना है, जो आरा के गर्भ में दबा पड़ा है और जिसे कोई नहीं जानता, साथ ही उन तमाम साहित्यकारों को भी सामने लाना है, जिनके नाम कहीं भी सुरक्षित नहीं हैं।

अब भोजपुर के उन पत्रकारों की चर्चा जरूरी लगती है, जिन्होंने यहाँ से बाहर रहकर हिन्दी-पत्रकारिता को अपना सहयोग दिया है और जो हिन्दी के लिए हमेशा लड़ते रहे हैं। ऐसे लोगों में सबसे पहले पं० **सकलनारायण शर्मा** का नाम आता है, जिन्होंने पटना से निकलनेवाली पत्रिका 'शिक्षा' का सम्पादन किया था। इनके बाद **ईश्वरीप्रसाद शर्मा** आते हैं, जिन्होंने कलकत्ता के 'मतवाला' और 'हिन्दूपंच' का सम्पादन किया था। और फिर, **आचार्य शिवपूजन सहाय**, जो 'बालक', 'हिमालय', 'साहित्य' (पटना), 'मतवाला' (कलकत्ता), 'माधुरी' (लखनऊ) और 'गंगा' (भागलपुर) नामक पत्रिकाओं से जुड़े रहे थे और इनका सम्पादन किया था। पं० **नन्दकिशोर तिवारी** ने 'चाँद' और 'भविष्य' (इलाहाबाद) तथा 'विहार' (पटना) का सम्पादन किया था। **त्रिवेणीप्रसाद** ने 'भविष्य' (इलाहाबाद) का सम्पादन किया था। **बनारसीप्रसाद भोजपुरी** 'देश', 'जनक', 'महावीर', 'नवशक्ति' (पटना), 'सूर्य' और 'आर्यमहिला' (बनारस) के सम्पादकीय विभागों से सम्बद्ध रहे। **जगतनारायण लाल** 'महावीर' (पटना) से सम्बद्ध थे तथा **सरयूपण्डा गौड** 'आर्यमहिला' (बनारस) से। पं० **रामदहिन मिश्र** तथा **देवकुमार मिश्र** 'पारिजात' और 'किशोर' (पटना) से सम्बद्ध थे एवं **यशोदानन्दन अखौरी** 'नागर' (बम्बई) से। **प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त'** 'विद्यार्थी' (इलाहाबाद), 'आरती' तथा 'बिजली' (पटना) के सम्पादक थे, जबकि **रामदयाल पाण्डेय** 'पाटल' और 'नवराष्ट्र' (पटना) के। **गोपालप्रसाद सिंह** तथा **शमशेर जंग बहादुर** ने भी 'नवराष्ट्र' (पटना) में काम किया था। **भुवनेश्वरप्रसाद श्रीवास्तव 'भानु'** 'नवशक्ति', 'राष्ट्रवाणी' (पटना) और 'जागृति' (कलकत्ता) के सम्पादकीय विभाग में थे। पिछले दिनों, **जगदीश नलिन** ने मुजफ्फरपुर से 'निकष' नामक पत्रिका निकाली थी तथा **विजयमोहन सिंह** ने 'नईधारा' (पटना) के कई अंकों का सम्पादन किया था। इन दिनों डालटेनगंज से **कृष्णानन्दन कृष्ण** 'पुनः' का सम्पादन कर रहे हैं। **डॉ० चन्द्रभूषण तिवारी** कलकत्ता से निकलनेवाली पत्रिका 'कलम' के सम्पादकीय विभाग में हैं। **केशव रत्नम्** 'प्रतिबद्ध' (बेगूसराय), 'परस्पर' और 'संरचना' (बरौनी) से सम्बद्ध हैं तथा **नवेन्दु** और **श्रीकान्त** पटना से निकलनेवाली पत्रिका 'जनमत' के सम्पादकीय विभाग में हैं।

पत्रिकाओं का यह इतिहास हमारी उस ऊर्जा को रेखांकित करता है, जो हमारे भीतर दबी पड़ी होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भोजपुर की जमीन से जुड़े इन तमाम लोगों ने अपनी ऊर्जा को एक आकार दिया है, साथ ही हमें यह सिखलाया है कि बैठ जाने का मतलब है हार जाना, स्थितियों के आगे आत्मसमर्पण कर देना। मुझे विश्वास है, भविष्य में भी हम इसे जरूर समझते रहेंगे! ●●

△ नेहरूनगर, आरा (बिहार)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साहित्य में आदर्शवाद

डॉ० कपिलदेव पाण्डेय

विश्व की मूल चिन्तनधारा से जितनी विचारधाराओं का विकास हुआ है, उनमें आदर्शवाद का भी विशिष्ट स्थान है। आधुनिक युग में आदर्शवाद का प्रयोग व्यापक अर्थ में होने लगा है। क्योंकि, अँगरेजी-पर्याय Idealism, Idea से इसके विकसित होने के कारण यह यथार्थतः प्रत्ययवाद के अर्थ में आता है। आधुनिक दार्शनिक Idea का अर्थ प्रत्यय से लेते हैं, जबकि भारतीय आदर्शवाद का सीधा सम्बन्ध जीवन-मूल्यों से रहा है। अतः, प्रत्ययवादी आदर्शवाद का प्रत्यक्ष सम्बन्ध दार्शनिक प्रत्ययवाद से रहा है, जिसका विकास प्लेटो से डेकार्ट, ह्यूम, बर्कले, काण्ट और हेगेल तक के प्रत्ययवाद पर्यन्त अत्यन्त विशद रूप धारण कर लेता है। किन्तु, अपने मूल में प्रत्ययवाद प्लेटो के जिन विचारों से आरम्भ होता है, उन्हीं से निकलकर प्रत्ययवाद, दार्शनिक प्रत्ययवाद और साहित्यिक प्रत्ययवाद इन तीन रूपों में विकसित होता हुआ दिखाई देता है। प्लेटो का यह कथन है कि संसार में सबसे पहले किसी वस्तु का Idea होता है। उस Idea की रूपरेखा तैयार होने पर प्रायः उसी की अनुकृति का विकास कला या साहित्य है। उदाहरणार्थ, यदि किसी कलाकार ने अपने Idea से पलंग बनाया, तो उसके बाद बननेवाले सभी पलंग पहले पलंग की अनुकृति-मात्र हैं। अतः, पहली प्रत्ययवादी वस्तु ही सत्य है। पश्चिमी आदर्शवाद पर विचार करने के पहले पूर्वी आदर्शवादी धाराओं का भी आकलन और विश्लेषण अनिवार्य प्रतीत होता है।

पूर्वी विचारधारा में आदर्श जीवन उस सत्य से सम्बद्ध रहा है, जो विशुद्ध सत्य होकर जीवन का सत्य रहा है। विशुद्ध सत्य वह है, जो सदैव आदर्श नहीं हो सकता; क्योंकि मनुष्य की बुद्धि ऐन्द्रिक होने के कारण सीमित है, जबकि सत्य अनिर्वचनीय और इन्द्रियातीत। वह परम सत्य दार्शनिक ब्रह्मवाद का विवेच्य रहा है।

किन्तु, भारतीय आदर्शवाद जीवन की सैद्धान्तिकता और व्यावहारिकता दोनों के बीच पनपा और विकसित हुआ है। मनुष्य अपने जीवन के लिए जो स्वप्न देखता है, जो आकांक्षाएँ करता है, जिस प्रकार का आनन्द या सुख पाना चाहता है, वे उसके जीवन के आदर्श बनकर मूर्त्तिमान् हो जाते हैं। जब वह उन आदर्शों की प्राप्ति कर लेता है, तब वे उसके जीवन का यथार्थ बन जाते हैं। अतः, आदर्श वह है, जिसकी वह कल्पना करता है और यथार्थ वह है, जिसे वह जीता और भोगता है। इस तरह, भारतीय आदर्शवाद के सामाजिक और वैयक्तिक—दो भेद दृष्टिगत होते हैं। इन्हीं दृष्टियों पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राचीन भारतीय आदर्शवाद का विस्तार हुआ है। प्राचीन आर्यों का जीवन कतिपय सामाजिक आदर्शों पर ही आधृत था; जैसे उनका सामाजिक जीवन चार आश्रमों में विभक्त था---ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। उसी प्रकार पूरा समाज चार जातियों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभक्त था। इन सभी के जीवन के चार लक्ष्य—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राचीन आचार्यों में प्रसिद्ध थे। धर्म, अर्थ और काम का सम्बन्ध लौकिक जीवन के आदर्शों से था, जो न्यूनाधिक परिवर्त्तन के साथ युग-युगान्तर तक हिन्दुओं में प्रचलित रहे हैं। वस्तुतः, आर्यों के प्रमुख साहित्य वेदों में जिन यज्ञों का विधान किया गया है, वे लौकिक और पारलौकिक दोनों आदर्शों की पूर्त्ति करते हैं। आर्यों का समस्त जीवन यज्ञमय था। उनकी धारणा थी कि मनुष्य का जन्म स्वयं पृथ्वी पर जीवन की सबसे पहली आहुति है और उसके बाद समस्त कर्म, खेती, गृहस्थी इत्यादि तथा चिन्तन-मनन, अध्ययन-अध्यापन अनेक प्रकार के नित्य और नैमित्तिक यज्ञ आदि उसके जीवन के अभिन्न अंग थे।

भारतीय साहित्य में साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से जिन पद्धतियों का विकास हुआ, उनमें समीक्षा की दृष्टि से कुछ ऐसे मूलभूत सिद्धान्तों का आदर्शीकरण हुआ, जो बाद में चलकर उनके आलोचकों और विचारकों द्वारा विभिन्न युगों में परिवर्त्तित होते रहे। प्राचीन साहित्य का निर्माण विषय-वस्तु की दृष्टि से सामाजिक, आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों से अनुप्राणित रहा है। इसी से प्राचीन समीक्षा भी व्यक्तिगत जीवन की महत्ता स्वीकार नहीं करती। यदि किसी कृति या महाकाव्य का पात्र निर्धारित करना है, तो उसके भी विशेष मानदण्ड निर्धारित होते हैं। प्राचीन काल में जितने भी काव्य या महाकाव्य लिखे गये, उनमें कृति के अनुरूप किसी युगान्तरकारी घटना का होना आवश्यक समझा गया। साथ ही, उनमें सामाजिक या वैयक्तिक विद्रोह न होकर परम्परागत सामाजिक जीवन का आदर्श श्रेय और प्रेय की भूमिका में बाँधकर नियोजित करने का प्रतिबन्ध लगा रहा। यही कारण है कि आदर्शवादी साहित्य यथार्थ की कटुता और तीखापन को स्वाभाविक भूमिका में व्यक्त नहीं कर सका। आदर्शवादी काव्यों में जिस-जिस परिवेश के चित्रण किये गये, वे कभी-कभी अपने सामाजिक जीवन के भी लोकप्रिय रूप से पृथक् थे। उदाहरण के लिए, विषय-वस्तु की दृष्टि से 'रामायण' और 'महाभारत' इन दोनों महाकाव्यों के कथ्यों का जब हम विश्लेषण करते हैं, तब यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'रामायण' का पारिवारिक आदर्शवाद आगे चलकर प्रतिबद्ध काव्यों में ज्यादा-से-ज्यादा लोकप्रिय हुआ और मध्ययुग के प्रायः संस्कृत, प्राकृत या मध्ययुगीन कवियों में सभी ने उसकी परम्परा को स्वीकार किया, जबकि 'महाभारत' का पारिवारिक आदर्श उत्तरकालीन महाकाव्यों में उतना लोकप्रिय नहीं हो सका। आदर्शवादी साहित्य की नैतिकता और बौद्धिकता, विषय-वस्तु की दृष्टि से, सर्वत्र भारतीय धर्मसंहिताओं तथा लोकप्रचलित आदर्शों से प्रेरित होती रही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0:In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किन्तु, विषय-वस्तु का पारिवारिक आदर्शीकरण उन प्रेमाख्यान-काव्यों में लक्षित होता है, जहाँ प्रेमी और प्रेमिका का प्रेम-सम्बन्ध साहित्यकार का उपजीव्य है। उसी प्रकार जैन, बौद्ध या अन्य पुराणों की कथाओं और आख्यानों में किसी-न-किसी प्रकार का नैतिक उद्देश्य या कथा के माध्यम से किसी आदर्श की ओर संकेत उनकी कथावस्तु का मुख्य लक्ष्य रहा है। अतः, भारतीय कथा या आख्यान की परम्परा, कहीं राजनीतिक आदर्श, जैसे पंचतन्त्र, कहीं धार्मिक आदर्श और कहीं-कहीं साम्प्रदायिक आदर्शों से ग्रस्त रही है।

मध्यकालीन कबीर, सूर, तुलसी आदि कवियों में धार्मिक या दार्शनिक विषय-वस्तु उनके साम्प्रदायिक विचारों में रमकर व्यक्त हुई है। प्रायः यही स्थिति सिद्धों की रचनाओं में भी दृष्टिगत होती है; जैसे सरहपा ने अपने जीवन के आदर्शों को अपनी रचनाओं में व्यक्त करते हुए कहा है :

'जिमि लोग विलिज्जइ पाण्यथी तिमि घरणि लई चित्त।'

या

'एक्कु न कीज्जै मंत्र न तत्र निज्ज घरणि लेइ केलि करंत।'

किन्तु, सिद्धों का यह आदर्श उत्तरकालीन साहित्य में लोकप्रिय नहीं हो सका। कबीरदास ने मध्यकालीन अद्वैतविचारवादी धारा को स्वीकार करते हुए अपनी काव्य-वस्तु का विषय उन साम्प्रदायिक आदर्शों को बनाया, जो निर्गुण साहित्य में विशेष लोकप्रिय हुए। यों, प्रबन्धकाव्यों में कहीं-कहीं समन्वयवादी दृष्टि भी मिलती है। 'पृथ्वीराजरासो' में कहा गया है :

उक्ति धर्म विशालस्य राजनीतिनवं नराः।
षट भाषा पुराणं च कुराणं कथितं मया॥

कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय साहित्य का आदर्शवाद उन परम्परागत मान्यताओं, सिद्धान्तों, समीक्षात्मक सिद्धान्तों और दार्शनिक धारणाओं का मुखापेक्षी रहा है, जिन्होंने साहित्य में यथार्थ के बदले आदर्शोन्मुख सत्य को स्थापित करने में अपनी सारी शक्ति लगा दी है। उदाहरणार्थ, भारतीय दाम्पत्य-जीवन, माता-पिता एवं पुत्र, भाई-भाई या गुरु-शिष्य या 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसे पारिवारिक आदर्शों, स्त्रियों के पातिव्रत्य जैसी सामाजिक प्रथाओं तथा सुखान्त जैसी साहित्यिक धारणाओं एवं विशिष्ट प्रयोजनों के लिए लिखे गये साहित्यिक उद्देश्यों तथा श्रेय एवं प्रेय, जीवात्मा एवं ब्रह्म की एकता, ईश्वर और सृष्टि का पारस्परिक सम्बन्ध आदि आदर्शों को लेकर चलता रहा है। इस प्रकार, भारतीय साहित्य की विषय-वस्तु में दो प्रकार के आदर्श सत्यों का प्रतिपादन लक्षित होता है। जैसे, १. सनातन आदर्श, जिसे प्रायः सभी भारतीय साहित्यकारों ने अपनी आवश्यकता के अनुरूप ग्रहण किया; २. युगात्मक आदर्श, जो युग की परिस्थितियों से प्रभावित एक प्रकार का प्रतिक्रियात्मक आदर्श रहा है। जैसे मेधप्रधान यज्ञों के विरुद्ध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहिंसा का आन्दोलन, योग के विरुद्ध भक्ति का आन्दोलन, पुनः वैधी भक्ति के विरुद्ध निर्गुण भक्ति, रामानुजा भक्ति और रसिक भक्ति-सम्बन्धी आन्दोलन एवं उनके आदर्शों का निरीक्षण इन युगात्मक सत्यों में जिन सत्यों का प्रतिपादन हुआ है, वे मूलतः सामाजिक आदर्श न होकर आरम्भ में वैयक्तिक और बाद में साम्प्रदायिक आदर्श बन गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भक्तिकालीन आदर्शवाद भी एक तरह का प्रतिक्रियात्मक आदर्श रहा है, जिसमें वर्ण और आश्रम का, जातिवाद का विरोध किया गया है। उसमें कथनी-करनी का युगपत् सत्य निहित है : 'सन्तन ढिग बैठि बैठि लोक लाज खोई।' यहाँ मीराँ का दाम्पत्य-भाव के प्रति सहज आक्रोश प्रतिबिम्बित होता है। प्रेम और भक्ति का आदर्श प्रस्तुत करते हुए कबीर ने कहा है :

सीस उतारे भुईं धरे तब पैठे घर माहिं।

इस प्रकार, विषय-वस्तु का यह युगात्मक आदर्श आधुनिक युग के लेखकों में नव आदर्शवादी चेतना से प्रभावित होकर व्यक्त हुआ है। प्रेमचन्द के अनेक पात्रों अथवा उनकी विषय-वस्तु का निरूपण आदर्शवादी उद्देश्यों को प्रेरित करता है। हिन्दी-साहित्य के द्विवेदी-युग में यद्यपि विषय-वस्तु की दृष्टि से कुछ नवीन आदर्शों की स्थापना की गई है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के एक निबन्ध से प्रभावित होकर, मैथिलीशरण गुप्त ने 'यशोधरा' और 'उर्मिला' को सीता का स्थान देने का प्रयास किया। हरिऔधजी के 'प्रियप्रवास' की राधा दधि और माखन का मटका न फोड़कर गान्धीवादी चरखा लेकर बैठ गई। इस प्रकार, महर्षि दयानन्द, राजा राममोहन राय आदि सुधारक पुरुषों ने समाज की कुप्रथाओं (बाल-विवाह, सती-प्रथा) के विरुद्ध धावा बोल दिया, जिसका समाज पर ही नहीं, तत्कालीन साहित्य पर भी स्पष्ट प्रभाव पड़ा। इस युग में सनातन आदर्शों को दबाकर नवीन सामाजिक आदर्शों को अग्रसारित करने की चेष्टा की गई। इसी के साथ-साथ महावीरप्रसाद द्विवेदी ने खड़ी बोली का खड़खड़ापन दूर कर उसके स्वरूप और सौष्ठव को पुनः निखारने का प्रयास किया। वस्तुतः, हिन्दी-भाषा का वही स्वरूप और शैली बाद में चलकर अधिक प्राणवान् और स्वाभाविक प्रतीत होती है।

द्विवेदी-युग के बाद पुनः कथा-कहानी के क्षेत्र में प्रेमचन्द ने कहानी को गोपालराम गहमरी के जासूसी जंगल से निकालकर सामाजिक आदर्शों की भावभूमि पर रखा। प्रसाद ने अपने नाटकों में भारतीय सनातन आदर्श का भारतीय परिवेश में ही पुनर्मूल्यांकन किया। विशेष कर प्रसाद के आदर्शवाद का उद्देश्य मुस्लिम-युग में ध्वस्त गरिमा को पुनः स्थापित करना था। इसी से प्रसाद ने अपने समस्त नाटकों में नारी को गौरवमय स्थान दिया है। 'स्कन्दगुप्त' में देवसेना का आदर्श प्रेम और 'चन्द्रगुप्त' में कार्नेलिया का राष्ट्रप्रेम भारतीय नारी के वैयक्तिक और सामाजिक दोनों आदर्शों का उद्भावन करते हैं। उसी युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी आदर्श समीक्षा का निर्माण किया। शुक्लजी ने अपनी समीक्षा में लोकमंगल की भावना, पात्रों में शक्ति, शील और सौन्दर्य की स्थापना,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साहित्यिक प्रयोजनों में रस का महत्व तथा साधारणीकरण के सिद्धान्त एवं आइ० ए० रिचर्ड्स के, सम्प्रेषणीयता के सिद्धान्त के तुलनात्मक विवेचन के द्वारा अपने नये आदर्शों को सिद्ध करने का प्रयास किया। इस युग के अन्य उपन्यासकारों में भगवतीचरण वर्मा ने जीवन-दर्शन के आदर्शों को वीजगुप्त और कुमारगिरि तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच में चित्रलेखा जैसी सुन्दरी को रखकर अपने उपन्यास की विषय-वस्तु का उपस्थापन किया है। अन्त में, गीता के निष्काम कर्मयोग की भाँति वीजगुप्त के अनासक्त प्रेम को आदर्श सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। छायावादी कवियों में अपने युग से प्रेरित उन वैयक्तिक, आदर्शों की झलक मिलती है, जो उनके गीतों में आनन्दवादी मानवतावाद और निराला में सामाजिक करुणा का चित्र प्रस्तुत करनेवाला नवमानवतावाद (सरोज-स्मृति; कुल्ली भाट) तथा पन्त में नवीन जीवन-दर्शन-सम्बन्धी विचारधाराएँ मानवतावादी आदर्श की ओर इंगित करती हैं। इस युग तक प्राचीन राजतन्त्रीय और सामन्तवादी सामाजिक आदर्शवाद प्रायः ध्वस्त हो चुके थे, वल्कि आधुनिक राजनीति से प्रभावित आदर्श तत्कालीन साहित्यधारा को विशेष रूप से प्रभावित करते थे। लिंकन द्वारा प्रस्तुत जनतान्त्रिक आदर्श : 'Democracy is the government of people for the people and by the people.' या समाजवादी और प्रगतिशील आदर्शवाद ने सर्वहारा क्रान्ति को ही अपना मुख्य उद्देश्य वनाया। इन दोनों के बीच गान्धी का आदर्शवाद जो सत्य और अहिंसा पर आधृत था, 'Plain living and high thinking' को प्रभावित करता था। इन तीनों ने मिलकर आधुनिक साहित्य की विषय-वस्तु को नये आदर्शों में ढालने की प्रेरणा दी।

इसके वाद का साहित्य मार्क्सवादी, फ्रॉयडवादी (प्रगतिवादी और प्रयोगवादी) इन दो भागों में वँट गया। एक वर्ग के लेखकों ने मार्क्सवाद को और दूसरे ने युगात्मक आदर्श; साहित्य और समाज की गतिविधियों को बदलते हुए जीवन-मूल्य और सत्य के साथ निरन्तर परिवर्त्तित किया है। फिर भी, आदर्शवादी विषय-वस्तु का सबसे वड़ा दोष यह है कि वह आदर्श की सीमित पटरियों को छोड़ नहीं पाता। इसी से साहित्य या जीवन, दोनों में आदर्श सदैव पीछे पड़ जाता है, गतानुगतिक और घिसा-पिटा हो जाता है और जीवन अपनी नई जीवनी शक्ति को लेकर नई भावभूमि के साथ आगे बढ़ जाता है।

आदर्शवादी पात्र-कल्पना : आदर्शवाद की यही विडम्बना आदर्शवादी साहित्य में ऐसे पात्रों की कल्पना और चरित्रों का चित्रण करती है कि वह स्वाभाविक पात्र न होकर एक प्रकार का Type character या प्रतीक-पात्र वनकर रह जाता है। वाल्मीकि से 'साकेत' तक रामकथा के जितने भी मूल और गौण चित्र प्रस्तुत किये गये हैं, वे स्वाभाविक चरित्र-पात्र न होकर अपने काव्य के विशिष्ट पात्र ही हैं। यही कारण है कि वाल्मीकि के राम, कालिदास के राम, व्यास के राम, जैन रामायणों के राम, अध्यात्म-रामायण के राम, उत्तरकालीन रसिक सम्प्रदायों के राम और अन्त में मैथिलीशरण गुप्त के राम में वैयक्तिक भेद तथा शक्ति, शील और सौन्दर्य-सम्वन्धी वैषम्य प्रचुर मात्रा में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिलता है। राम के आदर्शीकरण और ब्रह्मीकरण की अवतारवादी प्रक्रिया और वाल्मीकि की इस उपमा ('विष्णुना सदृशं वीर्यम्') से उन्हें पहले विष्णु-समान पराक्रमवाला, बाद में विष्णु का अवतार और अन्त में विष्णु जैसे ही लोगों को राम के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

भारतीय महाकाव्यों में पात्रों का आदर्शीकरण विभिन्न देवताओं, ऋषियों, मुनियों, आचार्यों, अप्सराओं आदि अवतारवादी अध्यारोपों के माध्यम से प्रचलित रहा; जैसे राम विष्णु के अवतार, लक्ष्मण शेष के अवतार और हनुमान् वायु के अवतार के रूप में अध्यारोपित हैं। यही नहीं, प्रबन्धकाव्य में उदात्त पात्रों की अनिवार्यता अपेक्षित कर दी गई है। उनके चरित्रों में थोड़ी भी न्यूनाधिक विशेषता उदात्त चरित्र को भी विभक्त (धीरोदात्त, धीरललित और धीरोद्धत) कर देती है। नाटककारों ने भी इसी पात्र-कल्पना को अपने नाटकों में स्थान दिया। गौण पात्रों में नायक-नायिका-भेद-सम्बन्धी ऐसे-ऐसे पात्रों की कल्पना की गई है, जिसमें नायकत्व एक 'मेकैनिकल रोबोट' की तरह कृत्रिम मानव एवं पीठमर्द नायक-मात्र रह गया। प्राचीन काल में शारीरिक युद्धों के कारण पात्र का वीर होना सर्वप्रथम गुण माना जा सकता था, किन्तु ज्यों-ज्यों अन्य गुणों की भी महत्ता स्थापित होती गई, त्यों-त्यों वहाँ 'वीर' शब्द उन गुणों के साथ लगता गया; जैसे धर्मवीर (युधिष्ठिर), दानवीर (कर्ण), कर्मवीर (गान्धी), युद्धवीर (अर्जुन), सत्यवीर (हरिश्चन्द्र), त्यागवीर (दधीचि) आदि। इसी परम्परा में उन प्रतिज्ञावीरों को भी देखा जा सकता है, जो जीवन-भर अपनी प्रतिज्ञा पर अटल और अडिग रहे। जैसे : भगीरथ, भीष्म, अंगद, चातक आदि। बाद में चलकर उपदेशात्मक कहानियों और रूपकों और नाटकों में विभिन्न गुणों, विभिन्न विशेषताओं तथा विभिन्न दृष्टान्तों के द्योतक प्रतिनिधि एवं प्रतीक-पात्रों का विपुल विस्तार भारतीय साहित्य में दृष्टिगत होता है। अतः, आदर्शवादी पात्र-कल्पना स्वाभाविक पात्र-कल्पना से दूर एक ऐसे पात्र की सृष्टि करती है, जिसमें उसके व्यक्तित्व से अधिक उसका आदर्श ही मुखरित रहता है।

साहित्य का उपजीव्य : साहित्य का प्रयोजन यों तो सदैव विवादास्पद रहा है और आज भी है। किन्तु, प्राचीन साहित्य का प्रयोजन नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक तीनों को समाहित करके विकसित हुआ था। जैसा कि भामह ने कहा है कि साहित्य का मुख्य प्रयोजन—

धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्त्तिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥

—रहा है। किन्तु, सहृदय की दृष्टि से और सामान्य श्रोता की दृष्टि से कालान्तर में उसमें भेद हो गया। सहृदय किसी भी काव्य की परितः परीक्षा करता है। अतः, उसके लिए साहित्य की आत्मा क्या है, इसकी खोज प्राचीन समीक्षकों द्वारा निरन्तर चलती रही है। भामह ने काव्य की आत्मा को अलंकार के रूप में स्वीकार किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दण्डी ने काव्यगुणों को चित्रित करना ही काव्य का प्रयोजन माना। वामन ने रीतिशैली को ही काव्य की आत्मा ('रीतिरात्मा काव्यस्य') के रूप में स्वीकार किया। वक्रोक्तिकार ने 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' के रूप में वक्रोक्ति को काव्य का जीवन स्वीकार किया। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' कहकर ध्वनि को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। इस प्रकार, इन विभिन्न मतों के बीच रस को विशेष महत्त्व दिया गया। रस का समर्थन करनेवालों में आचार्य मम्मट, विश्वनाथ, राजशेखर और पण्डितराज जगन्नाथ का मुख्य स्थान है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' (विश्वनाथ) ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है। भरत मुनि ने कहा है : 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्तिः।' काव्य के अतिरिक्त साहित्य भी लेखन की दृष्टि से प्रयोजनात्मक रहे हैं। जैसे : मम्मट ने इन्हें एकत्र करने का प्रयास करते हुए कहा है :

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥"

ऐसे वाक्यों में प्रयोजनों की चर्चा होती रही है। किन्तु, आदर्शवादी साहित्य में मात्र रस ही मुख्य प्रयोजन नहीं रहा है, वल्कि वैयक्तिक, सैद्धान्तिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक आदर्श ही मुख्य प्रयोजन रहे हैं। कभी-कभी उन आदर्शों का मुख्य भाव इतने कठोर रूप में हुआ है कि उनकी साहित्यिकता तो दव गई, किन्तु उनका आदर्श ही चारों ओर प्रस्फुटित होता रहा।

पश्चिमी विचारकों ने कलाओं के साथ-साथ साहित्य के जिन आदर्शों को अपनाया, उनमें प्राचीन आदर्शों की अभिव्यक्ति हुई है। प्लेटो दार्शनिक आदर्शवाद को, जिसमें प्रत्यय या विचार को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है, साहित्य एवं कला के लिए भी उपादेय मानता है। किन्तु, इसके अतिरिक्त वह स्वीकार करता है कि काव्य का सत्य वह है, जिससे नैतिक और आध्यात्मिक जीवन को स्फूर्त्ति प्राप्त हो, एक विचारक एवं कलाकार की दृष्टि से सम्पूर्ण विश्व 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का आदर्श रूप हो। अरस्तू ने काव्य के विभिन्न पक्षों पर विचार करते समय काव्य-सत्य को मानव-आदर्शों के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया है। अतः, काव्य के लिए मनुष्य की आस्था, उसके विश्वास तथा परम्परागत मानव-धारणाएँ भी उन सत्यों में हैं, जिनसे एक श्रेष्ठ काव्य का सर्जन होता है। इस दृष्टि से अरस्तू ने आदर्श काव्य या आदर्श त्रासदी के लिए चरित्र का होना आवश्यक माना है। इस सम्बन्ध में उसके 'Good' की व्याख्या विभिन्न आलोचकों ने विभिन्न प्रकार से की है। किन्तु, त्रासदी के आदर्श नायक की कल्पना करते हुए स्वयं अरस्तू ने उसे स्पष्ट किया है कि त्रासदी का आदर्श नायक वह है, जो अत्यन्त सच्चरित्र तो नहीं, किन्तु धनी, कुलीन, सम्भ्रान्त और यशस्वी हो। उसमें सामाजिक गुणों के साथ-साथ मानवीय कमजोरियाँ भी होती हैं। इन्हीं कमजोरियों के चलते वह त्रासदी का शिकार होता है। अरस्तू के वाद काव्यों की चिन्तन और समीक्षा-पद्धतियाँ विभिन्न रूपों में विकसित होती रहीं। रोमन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समीक्षक लोनजाइनस ने उदात्त को काव्य का आदर्श स्वीकार किया, जबकि होरेस ने अन्तर्दृष्टि और शास्त्रज्ञान को विशेष महत्त्व दिया। साथ ही काव्यात्मक औचित्य उसके लिए विशेष महत्त्व रखता था। पश्चिमी विचारधारा के पूर्व मध्यकाल में ईसाई-धर्म की व्यापकता के साथ-साथ ईसाई-आदर्शों की प्रधानता रही है। इस युग के सेण्ट ऑगस्टस, इक्विनेस जैसे ईसाई समीक्षकों ने ईसाई आचारवाद को ही साहित्य के लिए विशेष उपयोगी माना, जिसका प्रभाव उत्तर-मध्यकाल तक भी किसी-न-किसी रूप में वर्त्तमान रहा। 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' जैसी रचनाओं में वही आदर्श सम्मूर्त्तित हुआ है।

किन्तु, सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में विज्ञान के विकास के साथ-साथ जब नई विचारधारा का जन्म हुआ, तब रूसो ने आदर्शवादी राज्य की कल्पना की। जॉन फिस्टे आदि ने उसी के समानान्तर आदर्शवादी विचारों का प्रवर्त्तन किया। उस समय तक साहित्य में नैतिकता और आचारवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान था; क्योंकि पुनर्जागरण-काल में शिक्षा, आनन्द, आत्मप्रेरणा, आचार और उद्देश्य काव्य के विशिष्ट प्रयोजन माने जाते थे। किन्तु, उन्हीं दिनों कलावादी आन्दोलन ने आदर्शवादी नैतिकता का घोर विरोध किया। वाल्टर पेटर ने 'कला के लिए कला' का सिद्धान्त साहित्य में स्थापित कर आचारवाद और नीतिवाद का स्पष्ट विरोध किया। उस समय साहित्य एवं कलाओं में ऐसी सौन्दर्यवादी विचारधारा का प्रचार हुआ, जिसका सिद्धान्त ब्रेडले के शब्दों में हैं : "मनुष्य और प्रकृति के जीवन में निहित सौन्दर्यों का उद्घाटन ही साहित्य का विषय है।" कलावादी और आदर्शवादी जैसा पृथक् विभाजन सौन्दर्यशास्त्रियों में भी परिलक्षित होता है। क्रोचे ने सहजज्ञान और सहजानुभूति को साहित्य में स्थान दिया। किन्तु, उसने खुलकर आचार या नैतिकतावाद का विरोध नहीं किया। अन्य सौन्दर्य-शास्त्रियों में बॉमगर्टेन और बोसांके ने साहित्य एवं कला के सौन्दर्य पर जो प्रकाश डाला, उसमें आदर्शवादी सौन्दर्यवाद की झाँकी मिलती है। अतः, कलावादी आन्दोलनों के समानान्तर, जिसके प्रवर्त्तक जे० ई० स्पीन जॉन और वाल्टर पेटर थे, एक आदर्शवादी सौन्दर्यवाद का भी पृथक् दर्शन साहित्य में दृष्टिगत होता है। इसके समर्थकों में ए० सी० ब्रेडले, टी० एच्० ग्रीन, जॉन रस्किन और टॉलस्टॉय के नाम लिये जा सकते हैं। इस युग में आदर्शवादी विचारधारा को पश्चिमी इतिहासकारों ने दार्शनिक, मानववादी, कलात्मक, धार्मिक और उपयोगितावादी इन पाँच भागों में विभक्त किया है। दार्शनिक विचारकों में काण्ट, हेगेल तथा अँगरेजी-विचारक कार्लाइल का मुख्य स्थान है। कार्लाइल ने 'सस्टर रिसर्टस' नामक पुस्तक में कलावादियों के विरुद्ध यह सिद्ध किया है कि आत्मा का सहज ज्ञान स्वच्छन्द एवं उन्मुक्त नहीं है। इसलिए, मनुष्य के समस्त मानवीय गुण, चाहे वे साहित्यिक हों या कलात्मक, उसके गम्भीर प्रभाव से अनुप्रेरित होते हैं। कार्लाइल के इस आदर्शवाद को रहस्यवादी आदर्शवाद कहा जाता है। इसी युग में अँगरेजी विचारक न्यूमेण्ड ने पुनः इसाई आदर्शवाद को जाग्रत् करने की चेष्टा की। उसने 'ऐप्लोसिया' नाम की पुस्तक में यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्ध करने का प्रयास किया है कि शिक्षा और साहित्य को नीति से पृथक् नहीं किया जा सकता। मनुष्य-जीवन का लक्ष्य उद्भ्रान्त होकर भटकना नहीं है, बल्कि एक सुनियोजित जीवन ही, जो शिक्षा और नीति से ही मिल सकता है, उसका परम लक्ष्य है।

इस युग के विज्ञान ने एक ऐसी पूँजीवादी व्यवस्था को जन्म दिया, जिसमें धनी उत्तरोत्तर धनी होते चले गये और गरीव निरन्तर गरीव। यद्यपि इस शोषणवाद का विरोध मार्क्सवाद में हुआ। किन्तु, मानववादी विचारकों ने भी उसका सम्यक् विरोध किया था। जॉन रस्किन ने 'मॉडर्न पेण्टर्स' में साहित्य और संस्कृति का निकटतम सम्वन्ध उस मानव-जीवन से स्थापित किया है, जो स्वाभाविक, प्राकृतिक और मानवीय है। किन्तु, आधुनिक उद्योगवाद ने प्राकृतिक सौन्दर्य और मानवीय गुणों का दमन कर दिया है। इसी से वौद्धिक आदर्शवादी विचारक न तो सामन्तवादी व्यवस्था को पसन्द करते हैं, न पूँजीवाद को। उनकी दृष्टि में सामन्तवाद मर्यादा, नियम, धार्मिकता, भाग्यवाद और परम्परा की आड़ में समाज को ह्रासोन्मुख बनाता है और पूँजीवाद व्यक्ति, मानवता, स्वतन्त्रता और वन्धुत्व का नारा लगाकर जोंक की तरह मनुष्य का शोषण करता है।

वस्तुतः, नवआदर्शवाद उस प्रकृति-सौन्दर्य का समर्थक है, जिसमें मनुष्य के स्वाभिमानपूर्वक जीवन जीने की आकांक्षा और अन्तदर्शन का सत्य निहित है।

००

△ हिन्दी-विभाग
ह० दा० जैन कॉलेज
आरा (बिहार)

शास्त्र और कला का योग : जीवन-सौन्दर्य

"जीवन के सिद्धान्तों को व्यवहार में लाने की जो कला या युक्ति है, उसी को 'योग' कहते हैं। 'सांख्य' का अर्थ है सिद्धान्त अथवा 'शास्त्र' और 'योग' का अर्थ है कला। शास्त्र और कला, दोनों के योग से जीवन-सौन्दर्य खिलता है। कोरा शास्त्र हवाई महल है। संगीतशास्त्र को समझ लिया, किन्तु यदि कण्ठ से संगीत प्रकट करने की कला न सधी, तो नाद-ब्रह्म की सजावट नहीं होगी। यही कारण है कि भगवान् ने सिद्धान्तों के साथ ही उनके विनियोग जानने की कला भी वताई है।"

△ आचार्य विनोबा भावे : गीता-प्रवचन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सत्याग्रही और सत्यग्राही

डॉ० दशरथ सिंह

'सत्याग्रही' और 'सत्यग्राही' आधुनिक भारत के दो महान् समाज-दार्शनिक गान्धी और विनोबा की अपनी-अपनी मौलिक धारणाएँ हैं। गान्धी ने अपने आचार और विचार से समाज-परिवर्त्तन के लिए सत्यग्राही होने की आवश्यकता का समर्थन किया था। विनोबा ने इससे भिन्न सत्यग्राही बनने का उपदेश दिया। उन्होंने गान्धी के 'सत्याग्रह को निषेधात्मक एवं दबावपूर्ण सिद्ध कर उसे भावात्मक, रचनात्मक और गुणात्मक रूप' प्रदान करने का समर्थन किया है तथा अपने आधुनिकतम संग्रह-ग्रन्थ 'समणसुत्तं' में स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि वे सत्याग्रही नहीं, सत्यग्राही हैं, जिसकी शिक्षा उन्हें भगवान् महावीर के उपदेशों से मिली है। इन दो समाज-दार्शनिकों का यह मतभेद दार्शनिक अध्ययन की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तावित निबन्ध का लक्ष्य ऊपर की दोनों धारणाओं के बीच आपसी सम्बन्ध का निरूपण करना तथा समाज-परिवर्त्तन की दृष्टि से उनकी समीक्षा प्रस्तुत करना है। 'सत्याग्रही' और 'सत्यग्राही' दोनों में 'सत्य' सामान्य पद है। अतः, सर्वप्रथम विनोबाजी की दृष्टि में सत्य क्या है—इसका विश्लेषण अपेक्षित है।

'सत्य' एक व्यापक धारणा है, जो क्षेत्र और पात्र की अपेक्षा से अलग-अलग अर्थ रखता है। विनोबा ने व्यवहारशास्त्र की दृष्टि से सत्य की तीन विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। ये तीन विशेषताएँ हैं : अन्तःसमाधान, समत्व और सन्तुलन। मानव-कृत कोई भी व्यवहार, जो उसकी अन्तरात्मा या अन्तःकरण को समाधान देता है, इसपर किसी प्रकार का प्रहार नहीं करता—सत्य कहलाता है। परन्तु, कोई धूर्त्त, ठग, वंचक आदि अन्तःकरण के समाधान के नाम पर अनैतिक तथा असामाजिक व्यवहारों का निगमन न कर सके, इसके लिए सत्य का दूसरा अनिवार्य तत्त्व समत्व को जोड़ दिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि सत्य के उपासक को यह भी देखना पड़ता है कि उसका व्यवहार-विशेष केवल उसी के अन्तःकरण को समाधान देता है या वह अन्य के अन्तःकरण को भी तुष्ट करता है। सामान्य रूप से हितकर व्यवहार ही सत्य कहला सकता है। यहाँ ऐसा प्रश्न किया जा सकता है कि क्या हर परिस्थिति में समाधान और समत्व-युक्त व्यवहार ही सत्य कहे जा सकते हैं? विनोबा का उत्तर निषेधात्मक है। उनके अनुसार केवल सन्तुलित चित्त से किया गया समत्व और समाधान-युक्त व्यवहार ही सत्य कहलाता है। अशान्त या असन्तुलित चित्त से किया गया कोई भी व्यवहार सत्य की श्रेणी में नहीं आ सकता। अत, सत्य का तीसरा अनिवार्य अंग सन्तुलन को उन्होंने जोड़ दिया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गान्धी से मतभेद रखते हुए विनोबा का यह कहना है कि सत्य पर प्रयोग नहीं किये जा सकते, उसपर खोज की जा सकती है : 'जीवनं सत्यशोधनम्' । सत्यशोधन की दृष्टि से इसका एक अंश ही प्राप्त किया जा सकता है । सम्पूर्ण सत्य को प्राप्त करना असम्भव है । सत्यप्राप्ति के साधन के रूप में गान्धी ने अहिंसा को स्वीकार किया था, विनोबा ने इसके बदले नम्रता, तटस्थता और अनाग्रह को स्वीकार किया है ।

सत्य का आग्रह, अर्थात् उसपर कायम रहना ही विनोबा की दृष्टि में सत्याग्रह है । लाखों संकटों को झेलते हुए भी सत्य पर आरूढ रहना ही सत्याग्रह है । उदाहरणस्वरूप, एकनाथ महाराज को लिया जा सकता है । कहा जाता है कि उनके शरीर पर दुर्जन थूकते जाते थे और वे स्नान करते जाते थे । विनोबा ने गान्धी के सत्याग्रह को आदर्श रूप में इसलिए नहीं लिया है कि वह दबावपूर्ण और निषेधात्मक है और सत्याग्रह में दबाव के लिए कोई भी स्थान नहीं है । इसीलिए, विनोबा ने सत्याग्रह में प्रतिपक्षी के प्रति अहिंसक प्रतिकार के बदले अहिंसक सहकार को स्वीकार किया है । यदि वे किसी भी प्रकार के प्रतिकार को स्वीकार भी करते हैं, तो वह अपनी ही बुराई का स्वयं द्वारा किया गया प्रतिकार है, किसी प्रतिपक्षी की बुराई का प्रतिकार नहीं । बाहरी प्रतिकार के विरुद्ध उन्होंने तीन युक्तियाँ दी हैं । प्रथमतः, उनका यह मानना है कि वर्त्तमान अन्तर-राष्ट्रीय परिस्थिति में केवल विचारों के ही हमले चल रहे हैं । अतः, विश्व-परिस्थिति में परिवर्त्तन लाने के लिए सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विचारों का अनुसन्धान करना तथा उनका लोक-शिक्षण होना अनिवार्य है । उन्होंने कहा है : "यदि मुझे सत्य का आग्रह है, तो मैं अपना सत्य दूसरों पर लाद नहीं सकता और दूसरे भी अपना सत्य मुझपर लाद नहीं सकते । हम एक दूसरे को समझा सकते हैं, मत-परिवर्त्तन की कोशिश कर सकते हैं । वह हुआ, तो हम बदलेंगे, नहीं तो अपने मत पर डटे रह सकते हैं । इस प्रकार, विनोबा की दृष्टि में सत्याग्रह आद्योपान्त वैचारिक और गुणविकास की प्रक्रिया है । वस्तुतः, सत्याग्रह के इस स्वरूप को मानने पर कोई सत्याग्रही नहीं, वल्कि सत्यग्राही ही रह जाता है । शायद, इसीलिए विनोबा ने अपने सम्पूर्ण जीवन में आर्थिक राजनीतिक एवं सामाजिक अन्याय और शोषण के विरुद्ध प्रतिकार करने में रुचि नहीं रखी । हाँ, एक बार इन्दौर में सिनेमा के अशोभनीय पोस्टरों के विरुद्ध सत्याग्रह उन्होंने अवश्य किया था ।

विनोबा ने यह स्वीकार किया है कि गीता के बाद यदि उनपर किसी का प्रभाव पड़ा है, तो वह भगवान् महावीर का उपदेश ही है, जिन्होंने सत्यग्राही बनने का उपदेश किया है । विनोबा के ही शब्दों में, "हर मानव के पास सत्य का अंश होता है, इसलिए, मानव-जन्म सार्थक होता है । तो, सब धर्मों में, सब पन्थों में, सब मानवों में सत्य का जो अंश है, उसको ग्रहण करना चाहिए । हमको सत्यग्राही बनना चाहिए ।" सत्यग्राही दूसरों के केवल गुणों को ही देखता है तथा उसे ग्रहण करता है । वह दूसरों से साधना करवाने के बदले स्वयं को तपाता है तथा अपनी न्यूनता को समाप्त कर व्यापक सत्यों के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऊपर के विश्लेषण के आधार पर 'सत्याग्रही' एवं 'सत्यग्राही' के आपसी सम्बन्धों को निम्नांकित प्रकार से समझा जा सकता है।

सत्याग्रही सत्य के किसी अंश को ग्रहण कर उसे कार्यरूप में परिणत करने के लिए उसका आग्रह रखता है। परन्तु, सत्यग्राही का दायित्व केवल सत्य के किसी अंश के ग्रहण करने भर से है। अर्थात्, सत्याग्रही, चाहे वह व्यक्ति हो या संस्था या समाज, किसी सत्य को समझकर उसे अपने व्यक्तिगत जीवन में आचरण का विषय बनाकर उसके व्यापक प्रचार के लिए असत्य पर चलनेवालों के प्रति अहिंसक प्रतिकार करता है। इसके विपरीत, सत्यग्राही सत्य के किसी अंश को समझकर अपने जीवन में तो उतारने की कोशिश अवश्य करता है, परन्तु, इस दृष्टि से असत्य पर चलनेवालों के प्रति किसी प्रकार का प्रतिकार नहीं करता! वह सत्य के ग्रहण करने-मात्र से तथा उसके लोकशिक्षण से ही सन्तुष्ट रहता है।

सत्याग्रही सत्य को समग्र एवं व्यापक रूप से लेने का प्रयास करता है। अतः, उसमें गुणग्रहण, आत्मशुद्धि, विरोध करने, दबाव डालने, व्यूह-रचना करने इत्यादि की प्रक्रिया देखी जाती है। उसमें सामाजिक दायित्व की भावना उग्र और तीव्र होती है। अतः, वह शारीरिक और मानसिक दोनों रूपों से सक्रिय रहता है। उसमें आदर्श और व्यवहार दोनों अविभाज्य रूप से मिले रहते हैं। परन्तु, सत्यग्राही सत्य के सरल और भावात्मक पक्ष को ही ग्रहण करता है। उसके निषेधात्मक पक्ष अखण्ड रूप से छोड़ दिये जाते हैं। अतः, उसका सत्य आंशिक सत्य होता है। उसमें आत्मशुद्धि और आदर्श के प्रति झुकाव अधिक रहता है। सामाजिक एवं व्यावहारिक रूप से वह अनुपयोगी और अप्रभावशाली होता है।

सत्याग्रही और सत्यग्राही की अपनी-अपनी अलग-अलग पृष्ठभूमि होती है। सत्याग्रही के सामने व्यक्तिगत या सामूहिक माँगें होती हैं। हिन्दू-पुराणों में तपस्या के द्वारा ईश्वर, मोक्ष अथवा राज्य की सिद्धि के अनेक उदाहरण मिलते हैं। ये सभी व्यक्तिगत माँगों की पूर्त्ति के निमित्त किये गये सत्याग्रह के ही उदाहरण हैं। इसी प्रकार, गान्धी, मार्टिन लूथर किंग आदि ने सामाजिक और राजनीतिक माँगों की पूर्त्ति के लिए सत्याग्रह का उदाहरण प्रस्तुत किया। इससे भिन्न सत्यग्राही की भूमिका आध्यात्मिक होती है। वह अपने-आप में ही दोष तथा दूसरों में गुण-ही-गुण को देखता है। वह अपने को पूर्ण बनाकर समस्त प्राणी के साथ तादात्म्य स्थापित करना चाहता है। अतः, सत्यग्राही को किसी परिस्थिति-विशेष की प्रतीक्षा नहीं रहती। वह अनवरत रूप से सत्यग्राही रह सकता है। सत्याग्रही की सार्थकता परिस्थिति-विशेष में अधिक रूप से देखी जाती है। मानव-जीवन के कुछ ऐसे क्षण आते हैं, जब सत्याग्रही बनने की आवश्यकता पड़ती है। हर क्षण सत्याग्रही नहीं रहा जा सकता है।

सत्याग्रही समाज, राज्य या किसी व्यक्ति की त्रुटियों को दूरकर परिस्थिति में परिवर्त्तन लाता है। परन्तु, सत्यग्राही स्वयं को बदलकर तथा इस प्रकार की शिक्षा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देकर समाज की परिस्थिति में परिवर्त्तन करता है। पहला क्रान्तिकारी परिवर्त्तन लाता है, परन्तु दूसरा विकासात्मक परिवर्त्तन की दिशा प्रदान करता है। सत्याग्रही में अहिंसा और करुणा—दोनों अधिक वेगवती होती हैं। किसी भी प्रकार के अन्याय और शोषण को देखकर सत्याग्रही निष्क्रिय रूप से बैठा नहीं रह सकता। एक सत्यग्राही तत्कालीन बुराइयों को अपने अवधान-केन्द्र से अलगकर परम मूल्यों के गहन प्रदेशों में विचरण कर सकता है। संक्षेप में, जो भेद कर्मयोगी और संन्यासी का है, वही भेद सत्याग्रही और सत्यग्राही का है।

सत्याग्रही जगत् और समाज को वास्तविक मानकर आगे बढ़ता है। अतः, वह भौतिक सुख-दुःख, सामाजिक शोषण-अशोषण तथा राजनीतिक चेतना के प्रति जागरूक रहता है। वह जगत् में अपनी सत्ता को भी स्वीकार करता है। परन्तु, सत्यग्राही जगत् को 'स्वर्णकंकणवत् विवर्त्त' मानता है। वह अपने को शून्य में परिणत करना चाहता है। 'मैं' के बदले 'हम' में वह विश्वास करता है। समाज की छोटी-बड़ी बुराइयों को देखकर वह अपनी माथापच्ची करना नहीं चाहता। वह अध्यात्म की ऊँचाई पर आरूढ होना चाहता है। एक सत्याग्रही लोकनायक, जननायक तथा राजनेता हो सकता है; परन्तु वह आध्यात्मिक गुरु भी हो, आवश्यक नहीं। सत्यग्राही आध्यात्मिक गुरु और जगद्गुरु भले ही हो, परन्तु आम नागरिकों का नेता नहीं बन सकता।

वस्तुतः, सत्याग्रही और सत्यग्राही का भेद व्यापकत्व पर ही आधृत है। एक सत्याग्रही के लिए सत्यग्राही होना आवश्यक है। परन्तु, कोई भी सत्यग्राही सत्याग्रही हो ही, आवश्यक नहीं। अतः, दोनों में मौलिक रूप से कोई भेद नहीं है। सामान्य भूमिका से देखने पर 'सत्यग्राही' 'सत्याग्रही' में व्याप्त है और 'सत्याग्रही' 'सत्यग्राही' का व्यापक पद है। अतः, दोनों के बीच कोई लक्ष्मणरेखा नहीं खींची जा सकती है। ऊँची भूमिका में आने पर 'सत्याग्रही' 'सत्यग्राही' में ही आत्मसात् हो जाता है।

'सत्याग्रही' और 'सत्यग्राही' को एक दूसरे के पूर्णतः विरोधी पद के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः, 'सत्यग्राही' के द्वारा 'सत्याग्रही' का खण्डन नहीं किया जा सकता। भगवान् महावीर के उपदेशों के आधार पर भी 'सत्यग्राही' के द्वारा 'सत्याग्रही' का खण्डन नहीं होता। जहाँ जैनदर्शन का 'स्याद्वाद' या 'अनेकान्त' और विनोबा का 'सर्वोदय' और 'समन्वय' 'सत्यग्राही' का समर्थन करता है, वहाँ 'स्याद्वाद' मुख्य-गौण के भेद तथा निश्चय और व्यवहार के न्याय से 'सत्याग्रह' का भी अप्रत्यक्ष समर्थन करता है। यह ठीक है कि सत्य के अनन्त पहलू हैं, अतः दूसरों के गुण भी सबके लिए ग्राह्य हैं। परन्तु, अनन्त गुणों और धर्मों में भी मुख्य और गौण का भेद करना ही पड़ता है। इस मुख्य-गौणन्याय के आधार पर विधि और निषेध दोनों इष्ट हैं।[1] अतः, समाज-दर्शन की भाषा में सहकार और असहकार एवं प्रतिकार दोनों ही वांछनीय हैं। यही तो सत्याग्रह है।

---

१. आचार्य समन्तभद्र : स्वयम्भूस्तोत्र, पृ० १९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'स्याद्वाद' के आधार पर भी सत्याग्रह का समर्थन मिलता है। कुछ विचारक तो 'स्याद्वाद' का अर्थ सम्भाव्य या संशयपूर्ण ज्ञान से लेते हैं। इन अर्थों के ग्रहण करने पर निश्चय ही किसी सत्याग्रही के लिए स्थान नहीं रह जाता; क्योंकि जब सत्य के सम्बन्ध में ज्ञान ही संशयपूर्ण और अनिश्चित है, तो फिर किसी सत्य के लिए आग्रह रखना कहाँ तक उचित होगा? परन्तु, अधिकांश जैनदर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् 'स्यात्' का अर्थ 'कथंचित्' से लेते हैं, जिसका अर्थ है विशेष दृष्टि से निश्चित ज्ञान।[1] इस अर्थ के ग्रहण करने पर जैनदर्शन में सत्याग्रह के लिए पर्याप्त स्थान मिल जाता है। चूँकि, कोई सत्याग्रही अपने निश्चित दृष्टिकोण से सत्य का आग्रह करता है, इसलिए, उनकी दृष्टिविशेष पर प्रश्नवाची चिह्न नहीं लगाया जा सकता।

सत्यग्राही को सत्याग्रह के लिए तैयार रहना आज के युग में विशेष रूप से आवश्यक है। विनोबा कि यह युक्ति की विश्व में विचारों के हमले ही चल रहे हैं, अतः विचार का ही अनुसन्धान होना चाहिए—सत्य के ऊपरी अंश को प्रस्तुत करता है। वस्तुतः, आज विश्व में विचार और आचार के बीच असंगतियाँ अधिक बढ़ गई हैं। इन असंगतियों को दूर करने के लिए सत्याग्रही के आदर्शोन्मुख प्रतिकार की पद्धति की आवश्यकता है। जहाँतक भारत की बात है—यह तो ठीक है कि यहाँ अब विदेशी शासन नहीं है, परन्तु सत्याग्रह का विदेशी शासन के साथ अनिवार्य सम्बन्ध जोड़ना ही भ्रमपूर्ण है। स्वदेशी शासन में भी अन्याय और शोषण की परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है और उस परिस्थिति में सत्याग्रह की आवश्यकता को भुलाया नहीं जा सकता। डॉ० राममनोहर लोहिया का विचार इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण है। यह दूसरी बात है कि नई-नई परिस्थितियों में प्रतिकार की व्यूह-रचना को बदलना होगा। गान्धी ने तो सत्याग्रह का प्रयोग अपनी धर्मपत्नी के विरुद्ध भी किया था। अतः, स्वजनों के अन्याय, शोषण तथा अनाचार के विरुद्ध सत्याग्रह और अधिक संगत है। सत्याग्रह प्रतिपक्षी के मन में भय और दबाव उत्पन्न करता है या आनन्द और प्रेम—यह प्रतिपक्षी के स्वभाव और प्रयोजन पर निर्भर है। जब किसी के व्यवहार से स्वार्थ पर धक्का लगता है, तब भय होना स्वाभाविक है। परन्तु, यदि प्रतिपक्षी विवेकशील और न्यायप्रिय है, तो वह सत्याग्रह को अपनी बुराई दूर करने की दवा के रूप में सहर्ष स्वीकार करता है।

इस प्रकार, निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि सत्यग्राही का सत्याग्रही से कोई विरोध नहीं होना चाहिए। समाज-दर्शन की दृष्टि से इन दोनों पदों को अपने-अपने सन्दर्भ में रखकर समझना ही अधिक उपादेय होगा। सन्दर्भ का विचार किये विना दोनों को एक साथ मिला देना अथवा एक के आधार पर दूसरे का खण्डन करना—दोनों दोषपूर्ण हैं। यह भाषा की दृष्टि से निरर्थकता और अस्पष्टता तथा समाज-परिवर्त्तन की दृष्टि से यथास्थिति को उत्पन्न करता है, जो कदापि वांछनीय नहीं है। ●●

दर्शन-विभाग, ह० दा० जैन कॉलेज, आरा (बिहार)

---

१. उमास्वामी की तत्त्वार्थवृत्ति की भूमिका द्रष्टव्य।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'प्रद्युम्नचरित': एक मूल्यांकन

△ डॉ० (श्रीमती) विद्यावती जैन

भारतीय वाङमय में महाभारत-कथा का महत्त्वपूर्ण एवं प्रेरक स्थान रहा है। उसमें प्राच्यकालीन समाज एवं संस्कृति का यथार्थ रूप तो चित्रित है ही, कुछ ऐतिहासिक तथ्यों पर भी उससे प्रकाश पड़ता है। परवर्त्ती कालों में उसने भारतीय संस्कृति की त्रिवेणी—वैदिक, बौद्ध एवं जैन-वाङमय को भी अत्यधिक प्रभावित किया है। उसके समस्त अथवा आंशिक आख्यानों को आधार मानकर विभिन्न विचारधाराओं के कवियों ने उसमें अपनी सांस्कृतिक एवं धार्मिक भावनाओं का पुट देकर विविध भाषाओं तथा विविध कालों में अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उनका आलंकारिक चित्रण किया है। ऐसे आख्यानक-ग्रन्थों की संख्या सम्भवतः सहस्राधिक होगी। श्रमण-सम्प्रदाय के कवियों ने भी उसके आधार पर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड, राजस्थानी, गुजराती आदि भाषाओं में विभिन्न कालों तथा विभिन्न विधाओं में शताधिक ग्रन्थ लिखे हैं। उन सभी के विषय में यहाँ चर्चा करना सम्भव नहीं, किन्तु प्राचीन हिन्दी-भाषा की अद्यावधि अप्रकाशित एक रचना 'प्रद्युम्नचरित' पर प्रकाश डाला जा रहा है, जो शलाकापुरुष श्रीकृष्ण के एक संघर्षशील पराक्रमी पुत्र प्रद्युम्न से सम्बद्ध है।

गुणवत्ता के आधार पर 'प्रद्युम्नचरित' महाकाव्य प्राचीन हिन्दी-भाषा का गौरव-ग्रन्थ माना जा सकता है। वैसे भी महाकवि स्वयम्भू, पुष्पदन्त एवं चन्दबरदाई के बाद श्रेण्य प्राचीन हिन्दी-साहित्य में यह महाकाव्य अपना प्रमुख स्थान रखता है। काव्य-शास्त्रीय समस्त गुणों से समन्वित प्रस्तुत महाकाव्य में समकालीन संस्कृति, इतिहास, भूगोल तथा ललित कलाओं के साथ-साथ दर्शन, धर्म, आचार, अध्यात्म एवं मानव-मूल्यों के समवाय से कृति का महत्व और भी अधिक बढ़ गया है।

प्रति-परिचय : इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की, जहाँतक मैंने, उपलब्ध साधनों के आधार पर, खोज की है, अभी तक भारतवर्ष के विभिन्न भाण्डारों में केवल दो ही प्रतियाँ उपलब्ध हो सकी हैं : एक प्रति आमेर शास्त्र-भाण्डार (जयपुर) में एवं दूसरी प्रतिलिपि ब्यावर (राजस्थान) के प्राचीन जैनशास्त्र-भाण्डार में। आमेर शास्त्र-भाण्डार की प्रति का परिचय इस प्रकार है :

इस प्रति में कुल पत्र-संख्या १०१(+१) है। इस प्रति के पृष्ठों में पंक्ति-संख्या का क्रम सुनिश्चित नहीं है। किसी में १२ पंक्तियाँ हैं (यथा : पृ० १०१), तो किसी में १६ पंक्तियाँ (यथा : पृ० ८७) और किसी में १५ पंक्तियाँ (यथा : पृ० १)। इसी प्रकार, प्रति पंक्ति में वर्णों की संख्या भी अनिश्चित है। किसी पंक्ति में २८ वर्ण हैं, तो किसी में ३३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पत्र-संख्या ग्रन्थारम्भ के पृष्ठ से प्रारम्भ होती है। प्रथम पृष्ठ के पीछे का पृष्ठ अलिखित है, किन्तु उसपर '१. प्रद्युम्नचरित' लिखा हुआ है। इसके हाशियों का क्रम भी लम्बाई एवं चौड़ाई की दृष्टि से अनिश्चित है। प्रथम पृष्ठ का बायाँ हाशिया १ इंच तथा दायाँ हाशिया १.२ इंच; ऊपर का हाशिया .३ इंच तथा नीचे का १.३ इंच है। यही क्रम बदलकर पृ० सं० ५६ का हाशिया .५ इंच (बायाँ), १ इंच (दायाँ), .२ इंच (ऊपर का); तथा .१० इंच (नीचे का) है। दायें एवं बायें हाशिये में कलाविहीन दुहरी रेखाएँ काली स्याही से बनाई गई हैं। इस प्रति का कागज मटमैला है। बरसाती नमी के प्रभाव से इसका कागज गल रहा है एवं पृष्ठों के किनारे क्षीण हो रहे हैं। कुल मिलाकर, इस प्रति की दशा जीर्ण-शीर्ण कही जा सकती है।

इस प्रति के लिपिकार श्रीकृष्णदास हैं, जिन्होंने किसी ब्रह्मचारी लाखा की प्रतिलिपि के आधार पर इसकी प्रतिलिपि वि० सं० १५५३ के भाद्रपद मास की पूर्णमासी, बुधवार को समाप्त की थी। प्रतिलिपिकार ने स्वयं अपना परिचय नहीं दिया है, किन्तु ब्रह्मचारी लाखा के संक्षिप्त परिचय के क्रम में कुछ भट्टारकों एवं प्रतिलिपि के लेखन-कार्य में प्रेरक एक परिवार की चर्चा की है। उसके अनुसार ब्रह्मचारी लाखा मूलसंघ, बलात्कारगण, सरस्वतीगच्छ एवं कुन्दकुन्दाचार्य के आम्नाय के पालक भट्टारक श्रीकीर्त्तिदेव के शिष्य थे। भट्टारक श्रीकीर्त्तिदेव की परम्परा इस प्रकार है :

पद्मनन्दिदेव
|
शुभचन्द्रदेव (वि० सं० १४५०–१५०७)
|
जिनचन्द्रदेव (वि० सं० १५०७–१५७१)
|
आचार्यश्री कीर्त्तिदेव
|
ब्रह्मचारी लाखादेव

प्रतिलिपिकार-प्रशस्ति में उक्त भट्टारक-परम्परा के विषय में विशेष परिचय नहीं मिलता। पट्टावलियों, मूर्त्तिलेखों एवं प्रशस्तियों[1] में उक्त पद्मनन्दिदेव, शुभचन्द्रदेव एवं जिनचन्द्रदेव के नाम तो मिलते हैं, किन्तु आचार्यश्री कीर्त्तिदेव तथा उनके शिष्य लाखादेव के नाम उस परम्परा में उल्लिखित नहीं हैं।

'नीतिवाक्यामृत'[2] की एक प्रशस्ति में भ० जिनचन्द्र के शिष्य रत्नकीर्त्ति का उल्लेख है। बहुत सम्भव है कि उक्त नाम से 'रत्न' शब्द किसी कारणवश त्रुटित हो जाने के कारण वह कीर्त्तिदेव के नाम से उल्लिखित हो गया हो। उक्त रत्नकीर्त्तिदेव

---

१. द्र० भट्टारक-सम्प्रदाय, पृ० ९९-१००, लेखांक २५३।
२. द्र० भट्टारक-सम्प्रदाय, पृ० १०२, लेखांक २५८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथवा कीर्त्तिदेव के शिष्य ब्रह्मचारी लाखा भट्टारक नहीं, एक सामान्य ब्रह्मचारी रहे होंगे। अतः, पट्टावलि में उनके नाम का नहीं मिलना स्वाभाविक है।

ब्रह्मचारी लाखा को उक्त ग्रन्थ की प्रतिलिपि की प्रेरणा सम्भवतः अणभू नाम की महिला से प्राप्त हुई थी। 'शाह' एवं 'राजा' जैसे विशेषण देखकर ऐसा लगता है कि उनका परिवार सम्भवतः राजन्य-वर्ग का था। अणभू ने अपने 'दशलक्षणव्रत' के उद्यापन की स्मृति में इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि कराई थी। उसकी कुल-परम्परा इस प्रकार है :

राजा (पत्नी : फोंदी)
|
शाहमहलू (पत्नी : पूरी)
|
शाहनाथू
|
हम्फराज — ताल्हण (पत्नी : अणभू)

दूसरी, ब्यावर-प्रति में कुल पत्र-संख्या १२४ है। पृष्ठ के बायें एवं दायें हाशिये क्रमशः १.३ इंच, १.५ इंच तथा ऊपर एवं नीचे के हाशिये क्रमशः १.१ इंच के हैं। दायें-बायें हाशियों में लाल स्याही से ३-३ मोटी रेखाएँ अंकित हैं। इनके दोनों किनारों पर भी १-१ मोटी रेखा अंकित है।

प्रत्येक पृष्ठ में ११-११ पंक्तियाँ एवं ४१-४१ वर्ण हैं। इस प्रति में गहरी काली एवं लाल स्याही का प्रयोग किया गया है। मूल विषय काली स्याही में तथा छन्द-नाम, छन्द-संख्या तथा विराम-चिह्न लाल स्याही मे अंकित हैं। सर्वत्र मोटी कलम का प्रयोग किया गया है, किन्तु हाशिये में लिखित टिप्पणियों में पतली कलम। प्रति में मटमैले कागज का प्रयोग किया गया है। प्रति की स्थिति उत्तम है। लेखन-प्रक्रिया की स्पष्टता, सुन्दरता, एकरूपता, शुद्ध पाठों एवं क्वचित्-कदाचित् संस्कृत-टिप्पणियों को देखकर प्रतिलिपिकार की प्रौढ विद्वत्ता एवं समर्पित सरस्वती-भक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। प्रत्येक पृष्ठ के ठीक मध्य भाग में १.५ इंच और किसी पृष्ठ पर १.७ इंच की भी अण्डाकार आकृति का स्थान छोड़ा गया है। सम्भवतः, यह स्थान आवश्यकता पड़ने पर सुरक्षा की दृष्टि से पत्रों को छेदकर उन्हें एक सूत्र में पिरोकर रखने की दृष्टि से छोड़ा गया होगा।

रचनाकाल : 'प्रद्युम्नचरित' में कवि के जन्मकाल अथवा लेखनकाल के सम्बन्ध में कोई सूचना उपलब्ध नहीं और उपलब्ध प्रकाशित साहित्य में भी परवर्त्ती कवियों के द्वारा उसका स्मरण नहीं किया गया। इस कारण कालनिर्णय में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हैं। इतना अवश्य है कि कवि ने अपनी ग्रन्थ-प्रशस्ति में अपने भट्टारक-गुरु एवं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुछ राजाओं के उल्लेख किये हैं। उनके आधार पर उसके काल के विषय में यही अनुमान किया जा सकता है कि वह बारहवीं-तेरहवीं शती के कवि रहे होंगे।[1]

रचना-स्थल : उक्त ग्रन्थ की प्रशस्ति से यह स्पष्ट है कि कवि सिद्ध सरस्वती के परमोपासक और भारतीय संस्कृति, इतिहास, धर्म एवं दर्शन के गम्भीर विद्वान् तथा प्राचीन हिन्दी के एक समर्थ लेखक थे। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने इसकी रचना 'वम्हणवाडपट्टन' में रहकर की थी।[2] इतिहास से यह सिद्ध है कि 'वम्हणवाडपट्टन' विविध जैनमठों, विहारों एवं रमणीक जिन-भवनों से सुशोभित एवं जैनविद्या का महान् केन्द्र था। उसकी अवस्थिति, जलवायु एवं वहाँ के निवासियों की सुरुचि-सम्पन्नता ने उस भूमि को साधना का एक प्रमुख केन्द्र बना दिया था। वहाँ एक विशाल जैनग्रन्थागार भी था। इस कारण अनेक आचार्य, लेखक एवं कवि वहाँ प्रायः आते-जाते और बने रहते थे। शौरसेनी-प्राकृतागमों की विशाल टीकाओं के साथ-साथ जिनसेन-कृत 'हरिवंशपुराण', गुणभद्र-कृत 'उत्तरपुराण' एवं अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थों का लेखन उसी पुण्यभूमि की देन है। आजकल यह स्थान गुजरात-प्रदेश में 'वाढ़वाण' के नाम से जाना जाता हैं।[3]

रचनाकार : 'प्रद्युम्नचरित' की आद्य प्रशस्ति से स्पष्ट विदित होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के मूलकर्त्ता कवि सिद्ध हैं। 'प्रद्युम्नचरित, की अन्त्य प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि किन्हीं प्राकृतिक उपद्रवों के कारण इस कृति की मूलप्रति विनष्ट अथवा गलित हो गई थी।[4] अतः, अपने गुरु मलधारीदेव अमृतचन्द्र के आदेश से महाकवि सिंह ने उसका छायाश्रित उद्धार किया था।[5]

आद्य प्रशस्ति के अनुसार, मूल ग्रन्थकार महाकवि सिद्ध की माता का नाम 'पपाइय' एवं पिता का नाम 'देवण' था।[6] महाकवि सिद्ध देवी सरस्वती के परम भक्त थे। उन्होंने स्वयं लिखा है कि एक दिन जब वह चोरों के भय से आतंकित होकर रात्रि-जागरण कर रहे थे, तभी उन्हें अन्तिम प्रहर में नींद आ गई। उसी समय स्वप्न में उन्होंने श्वेतवस्त्रधारिणी, हाथों में कमलपुष्प तथा अक्षसूत्र ग्रहण किये हुए एक मनोहारी महिला को देखा। उसने कवि से कहा : "हे सिद्ध कवि, अपने मन में क्या विचार कर रहे हो ?" तब उन्होंने मन में कम्पित होते हुए उत्तर दिया : "काव्यबुद्धि को प्राप्त करने की इच्छा रखता हूँ, किन्तु लज्जित बना रहता हूँ; क्योंकि मैं तर्क, छन्द एवं लक्षण आदि शास्त्रों के ज्ञान से रहित हूँ। समास, कारक, सन्धिसूत्र एवं निघण्टु का भी मैंने अध्ययन नहीं किया, फिर भी मैं काव्य-रचना करना

---

१. प्रद्युम्नचरित, आद्य प्रशस्ति।
२. उपरिवत्, १।५।४।
३. प्रमुख ऐतिहासिक जैनपुरुष एवं महिलाएँ, पृ० ९८–९९।
४. प्रद्युम्नचरित, अन्त्य प्रशस्ति।
५. प्र० च०, उपरिवत्।
६. उपरिवत्, आद्य प्रशस्ति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाहता हूँ। साहित्य-शास्त्र में अन्धा होने पर भी मैं नवीन काव्य-रूपी वस्तु को देखने की इच्छा किया करता हूँ।" कवि की यह प्रार्थना सुनकर उस महिला ने उत्तर दिया : "हे सिद्ध, तू अपने मन से आलस्य छोड़, मेरे आदेशों का पालन कर, मैं शीघ्र ही एक मुनिवर के वेश में आकर तुझे कोई काव्यविशेष की रचना करने को कहूँगी, तू उसी की रचना करना।"[1] उसके कुछ ही दिनों बाद महान् तपस्वी, मुनिपुंगव, मलधारीदेव माधवचन्द्र के शिष्य अमृतचन्द्र भट्टारक विहार करते-करते बम्हण-वाडपट्टन में पधारे। कवि कहते हैं कि 'वहीं पर उन्होंने मुझे 'प्रद्युम्नचरित' के प्रणयन का आदेश दिया।'[2]

ग्रन्थोद्धारक महाकवि सिंह ने अपने परिचय के प्रसंग में बतलाया है कि वह चार भाई थे, जिनमें वह सबसे बड़े थे। उनके अन्य भाइयों के नाम थे—शुभंकर, साधारण और महादेव। उनकी माता एवं पिता का नाम क्रमशः जिनमती और बुधरल्हण था। उनका कुल गुर्जर था और वह गुजरात के रहनेवाले थे।[3]

महाकवि सिंह, विद्याविनम्र कवि सिद्ध की अपेक्षा अहंकारी प्रतीत होते हैं; क्योंकि जहाँ सिद्ध कवि अपने को कवित्व के क्षेत्र में अज्ञान, कुब्ज, बौना आदि कहते हैं, वहीं महाकवि सिंह अपने को काव्य के क्षेत्र में 'सिंहवृत्ति' तथा 'बालसरस्वती'[4] तक कह देते हैं। सिंह कवि ने मौलिक रूप से 'प्रद्युम्नचरित' की रचना भले ही न की हो, किन्तु उसका उद्धार कर वह जिस गर्व का अनुभव करते हैं, उसकी तुलना 'अभिमान-मेरु' एवं 'अभिमानचिह्न' उपाधिधारी महाकवि पुष्पदन्त की गर्व-भावना से की जा सकती है। प्रस्तुत ग्रन्थ का अध्ययन करने से विदित होता है कि इसकी रचना-समाप्ति के कुछ समय बाद ही महाकवि सिद्ध का स्वर्गवास हो गया होगा और उसकी मूल प्रति का प्रारम्भिक अंश न्यून रूप में तथा अन्तिम अंश अधिक रूप में जीर्ण-शीर्ण हो गया होगा। उसकी दुर्गति देखकर अपने गुरु मलधारी अमृतचन्द्र के आदेश से महाकवि सिंह ने उसका जीर्णोद्धार किया था। उन्होंने उसकी प्रथम आठ सन्धियाँ तो कुछ कम परिश्रम से ही ठीक कर लीं, किन्तु अन्तिम सात सन्धियाँ इतनी अधिक रूप में नष्ट हो चुकी थीं कि उसके जीर्णोद्धार में उन्हें घोर परिश्रम करना पड़ा होगा। बहुत सम्भव है कि सिंह को वे सन्धियाँ स्वयं ही लिखनी पड़ी हों। यही कारण है कि प्रथम आठ सन्धियों की पुष्पिकाओं में सिंह ने उन्हें तो सिद्ध-कृत कहा, किन्तु अवशिष्ट अन्तिम सन्धियों की पुष्पिकाओं में उनके प्रणेता के रूप में अपने नाम का उल्लेख किया।

महाकवि की बहुज्ञता : जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, कवि सिद्ध प्राचीन हिन्दी-साहित्य में एक ऐसे महाकवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं; जिन्हें महाकवि स्वयम्भू एवं पुष्पदन्त के बाद सर्वाधिक प्रतिष्ठा दी जा सकती है। स्वयम्भू के बाद सम्भवत

---

१. प्र० च०, आद्य प्रशस्ति।
२. उपरिवत्।
३. प्र० च०, अन्त्य प्रशस्ति।
४. उपरिवत्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यही एक ऐसे कवि हैं, जिन्होंने पूर्ववर्त्ती उच्चस्तरीय उपलब्ध वाङ्मय का गहन अध्ययन एवं मनन करने के बाद अपने ग्रन्थ का प्रणयन किया है। कवि की दृष्टि निष्पक्ष रही है। साम्प्रदायिक भेद की दृष्टि से उन्होंने अपने को निरन्तर बचाये रखने का प्रयत्न किया है। यही कारण है कि उन्होंने एक ओर जहाँ 'वसुदेवहिण्डी' (संघदासगणी : ३-४ शती ई०); 'हरिवंशपुराण' (जिनसेन प्रथम : सातवीं शती); 'महापुराण' (पुष्पदन्त : १०वीं शती) एवं 'तत्त्वार्थराजवार्त्तिक' (अकलंक : सन् ६२२—६८० ई०) आदि ग्रन्थों का उपयोग किया, वहीं दूसरी ओर महर्षि व्यास-कृत 'महाभारत'; 'अश्वघोष' (प्रथम शती)-कृत 'सौन्दरनन्द'; महाकवि कालिदास-कृत 'रघुवंश', 'कुमारसम्भव', 'ऋतुसंहार' एवं 'मेघदूत'; माघ-कृत 'शिशुपालवध'; राजशेखर-कृत 'कर्पूरमंजरी'; भारवि-कृत 'किरातार्जुनीयम्' जैसे ख्यातिप्राप्त साहित्य का भी अध्ययन किया था। इसके साथ-साथ 'मनुस्मृति' तथा सांख्य, वेदान्त, मीमांसा, योग एवं कौलिक सम्प्रदाय-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों से भी कवि ने वैचारिक प्रेरणाएँ संगृहीत की थीं।[1]

वर्णन-वैशिष्ट्य : महाकवि सिद्ध ने प्रस्तुत ग्रन्थ में यद्यपि धर्म एवं दर्शन का विस्तृत विश्लेषण नहीं किया है, तथापि मानव-जीवन के व्यक्तित्व-विश्लेषण में बड़ी ही सतर्कता से आवश्यक तत्त्वों का उपयोग किया है। भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद का संघर्ष भी इसमें चित्रित है। मेघकूटपुर-नरेश कालसंवर जहाँ भौतिकता[2] का प्रतीक है, वहीं कुमार प्रद्युम्न आध्यात्मिकता[3] का। कषाय एवं वासनाएँ व्यक्ति के जीवन को किस प्रकार भरमाती हैं और किस प्रकार व्यक्ति उनके दुष्प्रभाव से अपने आचरण को राक्षसों की कोटि में ले आता है, इसके प्रमुख उदाहरण हैं—राजा मधु[4] एवं रानी कनकप्रभा[5]। कवि की अनुभूति का यह निष्कर्ष है कि भोग-सामग्री व्यक्ति को कभी सुखी नहीं बना सकती और न वह उसे जीवन में मंगल-प्रभात के दर्शन ही करा सकती है। यही कारण है कि कवि के अधिकांश पात्र जीवन के प्रारम्भिक आनन्द-भोगों के तत्काल पश्चात् ही वैराग्योन्मुख दिखलाई देने लगते हैं।

इतिहास की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कवि ने अपनी आद्य एवं अन्त्य प्रशस्तियों में तत्कालीन बल्लाल-नरेश मूलधारी अमृतचन्द्र, शाकम्भरी-नरेश अर्णोराज एवं सूबेदार भुल्लन के उल्लेख किये हैं।[6] यद्यपि आधुनिक भारतीय इतिहास के ग्रन्थों में ये व्यक्ति अत्यल्प चर्चित अथवा सर्वथा उपेक्षित हैं, किन्तु कवि के उल्लेखों से इनका महत्त्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है। ये ऐतिहासिक व्यक्ति चौलुक्य एवं अन्य नरेशों की इतिहास-सम्बन्धी अनेक टूटी हुई कड़ियों को जोड़ सकते हैं।

---

१. प्र० च०, ४।१५; १५।१६।
२. उपरिवत्, ४।४; ७।१०।
३. उपरिवत्, १५।६—८; १५।२०—२६।
४. प्र० च०, ६।१७—२२।
५. उपरिवत्, ६।२०—२२।
६. उपरिवत्, १।४,६—१०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भौगोलिक दृष्टि से भी यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। समकालीन भारत का प्राकृतिक एवं राजनीतिक रूप क्या था, उसपर कवि ने सम्यक् विचार किया है। उससे तत्कालीन विविध देश, नगर, जनपद, ग्राम, नदी, पर्वत, आकर, पत्तन, खेड, द्रोण आदि की सूचनाएँ मिलती हैं।[1] यह देखकर आश्चर्य होता है कि महाकवि को भौतिक जगत् की भी कितनी विस्तृत जानकारी थी। उन्होंने देश के आर्थिक जीवन पर भी विचार किया है, जिसके माध्यम से उन्होंने दैशिक एवं वैदेशिक व्यापार[2], आयात-निर्यात[3], विनिमय की प्रणाली[4], हाट-बाजार[5], कृषि[6], विविध उद्योग-धन्धों,[7], श्रम-मूल्य[8], विनिमय-प्रणाली के माध्यम में प्रयुक्त दीनार[9] (सिक्के) आदि पर भी प्रकाश डाला है और इससे बारहवीं-तेरहवीं शती के भौतिक, आर्थिक एवं प्राकृतिक भारत की एक स्पष्ट झाँकी मिल जाती है।

ललित कलाओं की दृष्टि से भी यह काव्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कवि ने विभिन्न प्रसंगों में संगीत-संगोष्ठी[10], वाद्य[11], नृत्य[12], चित्र[13], गुड्डी-उद्धरण[14], रंगोली[15] आदि की चर्चा की है। इनके साथ-साथ कवि ने प्रेक्षण-गृह[16] (ऑडोटोरियम) का भी वर्णन किया है। श्वेतवस्त्रानना एवं पुष्पावगुण्ठिता रूपिणी का चित्रण वस्तुतः तत्कालीन मूर्त्तिकला के सौन्दर्य को प्रकाशित करता है। कवि के समय में चित्र, मूर्त्ति, संगीत एवं नृत्यकला का क्या रूप रहा होगा, इसका अनुमान कवि के रम्य वर्णनों से लगाया जा सकता है। महाकवि सिद्ध ने मातृवर्णन में भी अपनी प्रबन्धपटुता का सुन्दर परिचय दिया है। कुमार प्रद्युम्न जब १६ वर्षों के पश्चात् चिर-विछोह के बाद अपनी स्नेहशीला माता रूपिणी (रुक्मिणी) के सम्मुख प्रस्तुत होकर उसे अपना यथार्थ परिचय देता है, तब वह (रूपिणी) आनन्दविभोर होकर शब्दों में हृदय के प्रमोद को व्यक्त नहीं कर पाती। वह केवल छलछलाते हर्षाश्रुओं से प्रद्युम्न को अपने गले से लगा लेती है। इस प्रसंग की मार्मिकता उस समय और भी अधिक बढ़ जाती है, जब अपनी माँ की चिराकांक्षा जानकर वह आज्ञाकारी पुत्र प्रद्युम्न जन्मकाल से शैशवकाल तक की समस्त बालक्रीडाएँ अपनी पूर्वार्जित विद्याओं के प्रभाव से यथाक्रमानुसार अत्यन्त स्वाभाविक रूप से प्रदर्शित कर देता है।[17]

---

१. प्र० च०, ११५।६।
२. उपरिवत्, १०।१०।
३. उपरिवत्, १०।१०।६।
४. उपरिवत्, ११।१२।२।
५. उपरिवत्।
६. उपरिवत्, ४।१६।
७. उपरिवत्, २।१४।८।
८. उपरिवत्, ११।७।९।
९. उपरिवत्, ११।१३।१३; १०।१८।
१०. प्र० च०, १५।३।१६-१७।
११. उपरिवत्, १।११; ३।१, ३।१६; ११।२३।
१२. उपरिवत्, १४।२०; १५।३।
१३. उपरिवत्, १३।१५।७।
१४. उपरिवत्, ४।४; १३।१५।८।
१५. उपरिवत्, १३।१५।९।
१६. उपरिवत्, १४।७।
१७. उपरिवत्, १२।१५-१६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नभोयान या आकाशगमन की चर्चा यद्यपि प्राचीन साहित्य में भी मिलती है और महर्षि वाल्मीकि के वाद कविकुलशिरोमणि कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में उसका सुन्दर एवं सजीव चित्र खींचा भी है[१], तथापि कवि सिंह का चित्रण उससे भी विशिष्ट वन पड़ा है। कवि ने विमान की संरचना[२], उसके गुण-दोषों[३] का विवरण, आकाश में विहार[४], आवश्यकता पड़ने पर उसे आकाशमार्ग में ही रोके रखने[५] और महिलाओं द्वारा उसे संचालित करने आदि का सजीव एवं रोचक चित्रण प्रस्तुत किया है। यही नहीं, तीव्रगति से संचालित विमान को एकाएक रोक देने पर किस प्रकार का झटका[६] लगता है, इसका भी इसमें बड़ा ही जीवन्त चित्रण किया गया है।

कवि की यह विशेषता है कि उन्होंने भावुकता-वश केवल सामाजिक, सांस्कृतिक, एवं साहित्यिक सद्गुणों की ही चर्चा नहीं की, अपितु राष्ट्रनिर्माण की उच्च भावना से ही मानों उच्च शिखर पर खड़े होकर एक सजग प्रहरी के समान ही समाज में व्याप्त कुछ कुत्सित परम्पराओं को खोजकर उनकी घोर भर्त्सना की है तथा स्वस्थ समाज के निर्माण-हेतु उनसे बचते रहने की भी सलाह दी हैं। ऐसी बुराइयों में रिश्वतखोरी[७], आत्महत्या[८], पुत्रापहरण[९], कन्यापहरण[१०], पत्नी का अपने पति को छोड़कर अन्य प्रेमियों के साथ संवास[११] जैसे समाजविरोधी कार्य प्रमुख हैं।

इस प्रकार, पूर्वोक्त तथ्यों के प्रकाश में कोई भी सहृदय विद्वान् महाकवि सिद्ध के प्रस्तुत 'प्रद्युम्नचरित' का मूल्यांकन भली भाँति कर सकता है। वस्तुतः, संक्षेप में कहा जाय, तो प्रस्तुत महाकाव्य में चरित, आख्यान, सिद्धान्त, काव्य, दर्शन, आचार, योग, अध्यात्म, सांस्कृतिक एवं सामाजिक तथ्य तथा भूगोल के विविध रूप प्रस्तुत किये गये हैं। भाषा एवं साहित्य की दृष्टि से भी महाकवि सिद्ध सचमुच महाकवि के रूप में और उनका प्रस्तुत काव्य अपनी गुणवत्ता के आधार पर महाकाव्य की कोटि में खरा उतरा है, इसमें सन्देह नहीं।

महाजन टोली, नं० २
आरा (बिहार)

---

१. प्र० च०, १०।२।
२. उपरिवत्, १०।३।
३. उपरिवत् १०।४।
४. उपरिवत्, १०।४-५।
५. उपरिवत्, १०।८; १०।१६।
६. उपरिवत्, १०।८।७-८।
७. प्र० च०, ११।२।९।
८. उपरिवत्, ४।८।६।
९- उपरिवत्, ४।५।
१०. उपरिवत्, २।१५।
११. उपरिवत्, ६।२१-२२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा के संरक्षक सदस्य

सर्वश्री जगजीवन राम (भू० पू० उप-प्रधानमन्त्री, भारत-सरकार); घनश्यामदास विड़ला (वम्बई : अब स्वर्गीय); द्वारिकाप्रसाद मिश्र (भू० पू० मुख्यमन्त्री, मध्यप्रदेश-शासन, जबलपुर); कमल सिंह (भू० पू० डुमरांव-नरेश), डुमरांव (भोजपुर); डॉ० शार्ङ्गधर सिन्हा (भू० पू० कुलपति, रांची-विश्वविद्यालय : अब स्वर्गीय); साहू शान्तिप्रसाद जैन (अब स्वर्गीय); एम्० एस्० अणे भू० पू० राज्यपाल, बिहार : अब स्वर्गीय); आचार्य बदरीनाथ वर्मा (भू० पू० शिक्षामन्त्री, विहार : अब स्वर्गीय); जगदीशचन्द्र माथुर, आइ० सी० एस्० (भू० पू० शिक्षा-सचिव, बिहार-सरकार : अब स्वर्गीय); कुमार तारानन्द सिंह, बनैली (पूर्णिया); कुमार कृष्णानन्द सिंह, सुलतानगंज (भागलपुर); सत्यदेवप्रकाश सिन्हा, एडवर्ड कोठी (आरा); मूलचन्द्र अग्रवाल, कलकत्ता (अब स्वर्गीय) एवं गोपाल नेवटिया [संरक्षक, मासिक 'नवनीत' (हिन्दी डाइजेस्ट), वम्बई : अब स्वर्गीय]।

o

सभा की वर्त्तमान प्रबन्धकारिणी समिति

सभापति : सर्वश्री डॉ० बनारसीप्रसाद भोजपुरी; उप-सभापति : १. डॉ० मुरली-मनोहर प्रसाद, २. नरेन्द्रबहादुर सिंह; सचिव : रणजीत बहादुर (एम्० एल्० सी०); संयुक्त सचिव : पद्मराजकुमार जैन; उप-सचिव : १. नरेन्द्र भूपबहादुर, २. डॉ० राजाराम जैन; सदस्य : १. जगदानन्द पाण्डेय; २. हृदयेश्वरनारायण अग्रवाल; ३. सुबोधकुमार जैन; ४. जुगलकिशोर जैन; ५. प्रो० रामेश्वरनाथ तिवारी; ६. गजेन्द्र भूपबहादुर; ७. मुखराम सिंह; ८. प्रदीपचन्द्र जैन; ९. सुरेन्द्रनारायण सिंह; १०. सच्चिदानन्द सहाय; ११. रघुनाथ केशरी; १२. सुनीलकुमार सिन्हा; १३. एस्० पी० देशमुख एवं १४. अध्यक्ष, नगरपालिका (पदेन)।

आरा-नागरी प्रचारिणी जिला केन्द्रीय पुस्तकालय के सदस्य

बिहार-सरकार द्वारा मनोनीत :

१. अध्यक्ष : जिलाधीश, भोजपुर (पदेन); २. सदस्य : जिला-शिक्षा-पदाधिकारी, भोजपुर (पदेन); ३. जिला-विकास-पदाधिकारी, भोजपुर (पदेन); ४. प्राचार्य, राजकीय कन्या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, आरा (पदेन); ५. श्रीअनिल कुमार, आरा।

नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा मनोनीत :

६. डॉ० बनारसीप्रसाद भोजपुरी; ७. श्री एस्० पी० देशमुख; ८. डॉ० मुरली-मनोहर प्रसाद; ९. प्रो० रामेश्वरनाथ तिवारी; १० श्रीरणजीत बहादुर (एम्० एल्० सी०); ११. श्रीगजेन्द्र भूपबहादुर; १२. श्रीप्रदीपचन्द्र जैन; १३. प्रो० तलहा रिजवी; १४. डॉ० राजाराम जैन एवं १५. रिक्त।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

3844

'शोध' : नियम और उद्देश्य

'शोध' आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा की गवेषणा-प्रधान पत्रिका है। इसमें उच्च कोटि के अनुसन्धानपरक तथा आलोचनात्मक निबन्धों के साथ-साथ जनपदीय भाषा, साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति-सम्बन्धी सामग्री का विशेष रूप से प्रकाशन होता है।

'शोध' का उद्देश्य है प्रादेशिक लोकभाषाओं एवं लिपियों का हिन्दी एवं नागरी में प्रचार।

'शोध' में नवीन प्रकाशनों की समीक्षाओं, ना० प्र० स० की गति-विधियों तथा अन्य साहित्यिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं पर विचार-विमर्श प्रस्तुत किया जाता है।

'शोध' में प्रकाशित निबन्धों में व्यक्त किये गये विचारों का उत्तर-दायित्व निबन्ध-लेखकों का है, सम्पादक अथवा 'सभा' का नहीं।

'शोध' में प्रकाशनार्थ प्राप्त सामग्री के सम्पादन तथा उसे स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का पूर्ण अधिकार सम्पादक के अधीन रहेगा।

प्रकाशक : रणजीत बहादुर एम्० एल्० सी०; प्रधानमन्त्री, नागरी-प्रचारिणी सभा, आरा-८०२३०१ (भोजपुर : बिहार)
मुद्रक : रोहित प्रिण्टिंग वर्क्स, लंगरटोली, पटना-८००००४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi